राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह

अस्तर पर मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य है, जिसमें तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ—रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं। उनके नीचे बैठा है मुंशी जो व्याख्या का दस्तावेज़ लिख रहा है। भारत में लेखन-कला का यह संभवत: सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख है।

नागार्जुनकोण्डा, दूसरी सदी ई०
सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली

भारतीय साहित्य के निर्माता

राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह

वीरेन्द्र नारायण

साहित्य अकादेमी

Raja Radhikaraman Prasad Singh : A monograph in Hindi by Birendra Narain on modern Hindi author. Sahitya Akademi, New Delhi (1990), **SAHITYA AKADEMI**
REVISED PRICE Rs. 15.00

प्रथम संस्करण : 1990

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय
रवीन्द्र भवन, 35, फ़ीरोज़शाह मार्ग, नयी दिल्ली 110 001
विक्रय विभाग : 'स्वाति', मन्दिर मार्ग, नयी दिल्ली 110 001

क्षेत्रीय कार्यालय
जीवन तारा बिल्डिंग, चौथा तल, 23ए/44 एक्स, डायमंड हार्बर रोड, कलकत्ता 700 053
29, एलडाम्स रोड, तेनामपेट, मद्रास 600 018
172, मुम्बई मराठी ग्रन्थ संग्रहालय मार्ग, दादर, बम्बई 400 014

SAHITYA AKADEMI
REVISED PRICE Rs. 15.00

मुद्रक
भारती प्रिण्टर्स
दिल्ली 110 032

अनुक्रम

परिवेश : संघर्ष एवं उत्कर्ष

उन्नीसवीं सदी के बिहार की कल्पना करते ही एक साथ कई बातें उभर कर सामने आती हैं। अंग्रेजी साम्राज्य का आधिपत्य जम तो चुका था लेकिन मुग़लकालीन सामंतशाही का रंग उतरा नहीं था। समाज में जो सुखी-सम्पन्न थे वे उसी रंग में रँगे थे। शासक बदल गये थे इसलिए उनकी नज़रों में सुर्खरू बनने के लिए अंग्रेजियत अपनाने का क्रम भी जड़ पकड़ चुका था। प्रारंभिक शिक्षा-दीक्षा घर पर ही दी जाती। लड़कियाँ रामायण बाँचने लगीं। चिट्ठी-पत्री लिखना-पढ़ना आ गया। बस। फिर एक सुघड़ गृहिणी बनाने की तालीम शुरू हो जाती। धर्म-परायणता ही उनके जीवन का प्रमुख संबल बताया जाता। यही पूँजी लेकर वे अपनी जीवन-यात्रा शुरू करतीं। लड़कों को स्कूलों का मुँह देखना पड़ता और साधन-सम्पन्न हुए तो कालेज तक पहुँचते।

जो रईस थे उनके मन बहलाव के साधन भी थे और उनसे जुड़े हुए लोगों का एक गिरोह भी। मुसाहबों की क़िस्में, राग-रंग के लिए शराब और नाचने-गानेवालियाँ, संगीत की महफ़िलों के लिए गवैये और साजिन्दे, दंगलों के लिए पहलवानों की क़तार। मन-बहलाव के लिए बड़े शहरों और पहाड़ों की सैर, किश्तियों-बजरों पर महफ़िलें और राग-रंग भी आम बात थी। उस समय बिहार बंगाल का ही एक अंग था। कलकत्ता देश की राजधानी तो था ही, सांस्कृतिक चेतना का भी समुन्नत केन्द्र था। इसलिए शासकों की दिलजोई हो या तफ़रीह की तलाश, सभी अमीर और रईस कलकत्ते जाते और कुछ दिन रहा करते। कलकत्ते में बिहार के कुछ रजवाड़ों की कोठियाँ भी थीं।

आम जनता तो थी ही ग़रीब और अनपढ़। नाना स्तरों के शोषण के बीच धर्म ही उनका एकमात्र सहारा था। उन्हें यह भी कहाँ पता था कि धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों को ताक पर रखकर समाज का एक तबक़ा इसी बहाने उनका शोषण कर रहा है। अंधविश्वास का दामन पकड़े वे जीवन-यात्रा समाप्त करते।

यह थी आम स्थिति। लेकिन समाज के सभी तबकों में इसके अपवाद भी थे। ऐसे भी अनपढ़ ग़रीब थे जिन्होंने धर्म के मूल तत्त्वों को सहज ही हृदयंगम कर लिया था। ऐसे भी मुसाहब थे जो चापलूसी के स्तर तक कभी नहीं

उतरे। ऐसी भी वारांगनाएँ थीं जिन्होंने तन का सौदा तो किया पर अपने मन को कमल के फूल की तरह हमेशा पानी के ऊपर रखा। ऐसे भी रईस-रजवाड़े थे जिनके लिए कला तफ़रीह नहीं थी। वे इसके मर्मज्ञ थे और थे स्वयं सृजनकर्त्ता भी—संगीतज्ञ और साहित्यकार। इस सिलसिले में याद आते हैं नगमात आसफ़ी के लेखक और प्रसिद्ध रबाब वादक पटना निवासी नवाब साहब, दरभंगा नरेश पं. लक्ष्मीश्वर सिंह (प्रसिद्ध सितार वादक) और सूर्यपुरा स्टेट के मालिक—साहित्य प्रेमी और साहित्यकार।

उस समय तक आधुनिक हिन्दी गद्य शैली का पूर्ण विकास नहीं हुआ था। बाबू भारतेंदु हरिश्चन्द्र (1850-1885) इस नये व्यक्तित्व का बोध करा रहे थे। इसलिए साहित्य प्रेमियों का सामान्यत: झुकाव ब्रजभाषा की ओर था। बिहार के भोजपुरी भाषी जनपद सूर्यपुरा (ज़िला शाहाबाद, अब रोहतास) के मालिक एक अति प्राचीन कायस्थ कुल के दीपक दीवान रामकुमार सिंह जी भी अपने साहित्य प्रेम के लिए सुविख्यात थे। वे 'कुमार' उपनाम से ब्रजभाषा में कविताएँ भी लिखा करते थे।

उन्हीं के सुपुत्र थे राजराजेश्वरी प्रसाद सिंह, जिन्हें अंग्रेजी सरकार ने राजा की उपाधि से विभूषित किया। साहित्य प्रेम तो विरासत में मिला ही था। राज-दरबार भी प्रतिष्ठानुकूल ही सजा। सूर्यपुरा में राज-निवास के निकट बने तालाब के किनारे मजलिस जमती—कभी गान और वाद्य की, कभी काव्य की। जब कभी बाहर से कोई गुणी आता तो अच्छी मुठभेड़ होती। एक दिन कहीं से दो नामी गवैये आये। दरबार के संगीतज्ञ दिगम्बर मलिक सितार लेकर बैठे। मुकाबला शुरू हुआ। मलिक जी ने ज्यों कसकर बीड़ खींचा कि झम-से सितार का तार टूट गया। राजा राजराजेश्वरी प्रसाद सिंह ने हँस कर कहा—

भलो भयो नहिं बाज्यो, आज सितार
बिधना ने पत राखी, टूटे तार।

कविता के रसिकों की तो अच्छी-खासी टोली थी दरबार में। सर्वश्री लछीराम, प्रभाकर (महाकवि पद्माकर के पौत्र) सन्त, श्याम सेवक मिश्र (रीवाँ निवासी), शमशुल उल्मा नवाब इमदाद, फ़ज़ल इमाम, राबिन्सन, अनुकूल चटर्जी, इंदु कवि, देवी बाबा, मीर साहब आदि आदि। कभी उस स्वकीया पर बड़ी सरगर्मी से बहस छिड़ती—जो प्रेम और त्याग की सच्ची तस्वीर हो। इंदु कवि ने मुबारक़ का पद पढ़ा—

घनश्याम सुखी रहो आनन्द से
तुम नीके रहो, उनहीं के रहो।

तुरन्त सन्त कवि ने राजा राजराजेश्वरी का ही एक सवैया पेश किया—

सुख है तो हमें तुम्हरे सुख में
सुख पाओ जहाँ तहँ छाये रहो।

दरबारी गायक मलिक जी ने गीत गाया—'हमरो सेंदुरवा से काज'। इसी भाव पर और भी सवैया और कवित्त पेश किये गये। अन्त में राजा राजराजेश्वरी प्रसाद सिंह ने बाङ्ला का एक पद पेश किया—

पराने ना जागे यदि व्याकुल पिपासा
शुधु चोखे देखा दिते ऐसो ना
भालोवेशे जदि दुख पाओ सखा
पाये धरि, भालोवेशो ना।
जाहा चाओ सखा दिवो फिराइया
स्मृति टुकु शुधु चेयो ना।

(यदि प्राणों में मेरे लिए व्याकुल प्यास न जगे तो सिर्फ़ दर्शन देने मत आना। प्यार से तनिक भी दुख होता हो तो पैरों पड़ती हूँ, प्यार भी मत करो। तुम जो चाहो लौटा दूँगी। एक विनती है—अपनी याद मत माँगना, लौटा न सकूँगी।)

ऐसे ही परिवार और परिवेश में राजा राजराजेश्वरी सिंह के प्रथम पुत्र का जन्म हुआ (10 सितम्बर, 1890)। नाम रखा गया राधिकारमण प्रसाद सिंह। द्वितीय पुत्र का नामकरण हुआ राजीवरंजन प्रसाद सिंह।

प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही आरम्भ हुई। पंडितजी और मौलवी साहब के जिम्मे यह काम था। एक ओर हिन्दी और संस्कृत तो दूसरी ओर उर्दू और फ़ारसी। रियासत के मैनेजर थे मिस्टर स्टीवेंस। सूर्यपुरा आने के पहले कहीं निलहे साहब थे। जर्मन रंग के ईजाद की वजह से जब नील का रोज़गार तबाह हो गया तो बड़ी सिफ़ारिश से सूर्यपूरा के मैनेजर बन पाये। उन्हीं की पत्नी से अंग्रेज़ी पढ़ने दोनों भाइयों को जाना पड़ता।

प्रतिवर्ष कुछ महीने कलकत्ता जाकर रहना रईसों और रजवाड़ों के लिए उन दिनों अनिवार्य था। राजधानी होने के कारण हाकिम-हुक्कामों की बन्दगी भी हो जाती और फिर दिलबस्तगी भी। कलकत्ते में दलबल सहित जब राजा राज-राजेश्वरी पहुँचते तो रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पड़ोस में ही टिकते। बाबू भारतेन्दु से अच्छा पारिवारिक सम्बन्ध था ही। संध्या समय रवि बाबू और राजा साहब साथ उठते-बैठते। साहित्य पर विचार-विमर्श होता, सौन्दर्य-बोध के आयामों की चर्चा होती। छोटे भाई राजीवरंजन स्वभाव से खेलकूद में अधिक दिलचस्पी रखते थे। लेकिन बड़े भाई राधिकारमण प्रसाद सिंह की रुचि साहित्य की ओर थी। दो बड़े बुजुर्गों की बातचीत वे मनोयोग से सुनते। पिता के दरबार में साहित्य की

एक झाँकी मिलती तो इन बैठकों में साहित्य के नये आयाम उजागर होते। साहित्य और सौन्दर्य-बोध की सीमाओं और संभावनाओं का नया आकाश खुलता और बालक राधिकारमण सिंह को एक ओर चमत्कृत करता तो दूसरी ओर उत्साहित और प्रेरित भी।

कभी-कभी राजा साहब और रवि बाबू दलबल सहित नाटक देखने जाते। बालक राधिकारमण सिंह भी साथ होते। पूरा बाक्स रिजर्व कराया जाता। दृश्यों के अंतराल में और नाटक के बाद नाट्य कला और अभिनय कला पर जो विचार-विमर्श होता उससे बालक राधिकारमण सिंह को नये आकाश का बोध होता, शब्दों में निहित प्राण-शक्ति की झाँकी दिखायी पड़ती। जाने-पहचाने शब्द सहसा एक नयी आभा से चमक उठते, अर्थ-समष्टि का नया क्षितिज सामने आ जाता। दोनों महारथियों के बीच हुए विचार-विमर्श से वाक्य-संरचना, विराम और पद-न्यास के चमत्कार का रहस्य, अभिनय द्वारा नये आयाम की सृष्टि आदि का स्पष्टीकरण होता।

ऐसा भी होता कि इस्टेट के काम से कुछ दिनों के लिए सभी को कलकत्ते में ही छोड़कर राजा राजराजेश्वरी प्रसाद सिंह को बाहर जाना पड़ता था। उस समय रवि बाबू ही स्थानीय अभिभावक बनते।

राजा राजराजेश्वरी प्रसाद सिंह (प्यारे कवि) रवि बाबू की 'चित्रांगदा' के हिन्दी अनुवाद में जुटे। अब तो मुलाकातों का अविच्छिन्न सिलसिला शुरू हुआ। प्यारे कवि उसी छंद में अनुवाद कर रहे थे। बंगला उच्चारण में 'इ' और 'ई' तथा 'उ' और 'ऊ' की आवश्यकतानुसार लम्बा या छोटा किया जा सकता है। गायक तो विशेष रूप से इसका प्रयोग करते है। हिन्दी में ऐसी सुविधा नहीं। इसलिए 'चित्रांगदा' जैसी गेय कृति का हिन्दी में उसी छन्द में अनुवाद कितना कठिन कार्य था इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। जितने अंश का अनुवाद हो चुका होता उसे लेकर दोनों बैठते और विचार-विमर्श होता। बालक राधिकारमण सिंह के लिए यह सर्वथा नवीन अनुभव था, रचना-प्रक्रिया की बारीकियों को देखने-समझने का अनूठा अवसर।

दूसरी ओर पिता के दरबार में जमे मुसाहबों का सच्चा सही स्वरूप भी स्पष्ट होने लगा। कुछ थे कुन्दन से खरे, कुछ खोटे सिक्के की तरह गले पड़ जाने वाले। एक के मिसाल थे देवी बाबा तो दूसरे के मिसाल थे हकीम मियाँ तजम्मुल हुसैन।

राजा राजराजेश्वरी प्रसाद सिंह के दूर के एक रिश्तेदार थे मुंशी देवीलाल। राजा साहब के रिश्ते से कोई उन्हें देवी मामा कहता तो कोई देवी बाबा। वे राजा साहब के आश्रित थे सही, पर अपनी आन के पक्के। राजा साहब को खाने-खिलाने का शौक़ था। कश्मीरी बावर्ची था जो घी और केसर की होली ही खेलता बावर्ची-

खाने में। दस-पाँच की हमेशा गुंजाइश रहती—न गिनी-चुनी बोटियाँ, न नपा-तुला शोरबा। मुंशी देवी लाल चाहते तो अपने साथ दो-चार को भी लाकर 'सरकारी चौके' का स्वाद चखा सकते थे। स्वयं राजा साहब ने कई बार आग्रह भी किया—आपका अपने हाथों रोटी सेंकना मुझे दुनिया के सामने नंगा कर रखना है। मगर वे हँसकर टाल जाते। कभी ऐसा भी होता कि खाने के वक्त एकाध नफ़ीस चीज़ लेकर पिता की मिन्नतों के साथ बालक राधिकारमण देवी बाबा के पास पहुँचते और मचल पड़ते। मुंशी देवी लाल शशोपंज में पड़ जाते। एकाध लुकमा गले के नीचे उतारना ही पड़ता। ऐसा नहीं था कि उन्हें किसी चीज़ से परहेज था। कलिया भी खाते और प्याले भी ढालते। मगर कभी-कभार, किसी दावत में एकाध लुकमा चख लिया और दो-चार घूँट पी लिया।

घर का दस्तूर था कि सुबह दोनों भाई पिता के सामने जाकर चरण छूते, फिर दस-पाँच मिनट दरबार में अपनी जगह बैठ आज्ञा लेकर पढ़ने के कमरे में जाते। एक दिन दोनों भाई बैठे ही थे कि मुंशी देवीलाल और पाठक जी हाजिर हो गये। पता चला कि उन दोनों की शिकायत पहुँची है राजा साहब के पास। पूछने पर पाठक जी ने बताया—

क़सूरवार मैं हूँ। बेटेवाला और बेटीवाला—दोनों यजमान ही ठहरे। मैं दूल्हे की ओर से रहा। लड़की की तरफ़ से किसे रखता? चौबे जी को फ़ुरसत ही नहीं थी। इसलिए देवी मामा के सर पर पगड़ी बाँध कर बिठा दिया। रस्मों की जानकारी थी ही। रह गया मंत्र पढ़ना। वहाँ कोई पढ़ा लिखा जानकार न था। बस शान से कुछ पढ़ते रहना था जिसे कोई न समझे—कुछ फ़ारसी ग़ज़ल के टुकड़े—संस्कृत के एकाध टूटे-फूटे श्लोक—मंगला काली भद्रकाली वगैरह, हुज़ूर वाले बाङ्ला गीत की दो तीन लड़ियाँ—जैसे-तैसे काम चल गया। माँग पर सिंदूर रखा, भाँवरें पड़ी और शादी हो गयी। मैं मुँह बनाकर बराबर कुछ अंट-संट कहता रहा।

—देवी मामा वहाँ कैसे निभे?

—मज़े में रहे हुज़ूर। हाफ़िज़ की ग़ज़लें तो थी ही, कुछ पश्तो—कुछ अंग्रेज़ी की बुकनी, संस्कृत के दो-चार छींटे, कुछ यों ही अल्लम-गल्लम बस जैसे-तैसे काम चल गया।

—कमाल करते हैं आप। और गोत्रोच्चार के वक्त?

—क्यों, सिकन्दर का क़ुर्सीनामा काम दे गया।

वहीं मुंशी देवीलाल तहसीलदार साहब से उलझ गये। कबाब में अधिक मिर्च पड़ जाने से एक नौजवान की पिटाई कर रहे थे तहसीलदार साहब। मुंशी देवीलाल बीच में आ गये। बात बढ़ गयी। उस ज़माने का दस्तूर था बेगारी। कोई भी काम पड़ गया, बेगार पकड़ लिया गया। दिन भर खटा, शाम को घर गया।

राज के कर्मचारियों का काम ज्यादातर बेगारों के मत्थे चलता। कोई भलामानस रहा तो कुछ दे दिया। वैसे कुछ देने का सवाल ही नहीं था।

राजा साहब ने एक छोटी-सी जाँच-कमेटी बनाकर ही छोड़ी। जाँच खुफ़िया थी। पता चला कि रियासत के कुछ कर्मचारी ऐसे भी थे जो मुफ़्त बेगारी तो कराते ही थे, चिट्ठा तैयार कर मजूरी भी हड़प जाते थे। दशहरे के दिन राजा साहब ने ऐलान किया—बेगारी दफ़न हुई। काम लो तो भर पेट खाना दो। कितने छोटे-मोटे कामों की मजूरी बँध गयी—नगद या जिंस।

रियासत के दरबारी नम्बर अव्वल थे हकीम तजम्मुल हुसैन। उनके इलाज की धाक थी, उनकी जुबान की धूम थी। पचास के पेटे में क़दम रख चुके थे। दो बेटों के बाप भी थे। लेकिन नयी शादी का ख़ब्त सवार हुआ। अपने नुस्ख़ों पर उन्हें नाज़ था—सड़े-सूखे भी हरे हो जायें। सर और मूँछ के बाल काले कर लिये। लड़की की अम्मा का नाम लेकर जो भी आता, हाथ साफ़ कर जाता। धीरे-धीरे हकीम साहब की नब्ज़ की पहचान की धाक, उनकी तीखी जुबान हज़म कर चुकी। नब्ज़ पर उँगलियाँ रखने के पहले मरीज की जेब टटोलने की लत लोगों की नाकों में दम करने लगी।

हकीम साहब की एक अजब हरकत थी। मरीज़ का बुखार उतरा और—'लो चंगे हो गये'—उसकी पीठ ठोकी, कमरे में कोई चीज़ पसन्द आ गयी तो हँसते-हँसते उठाकर चल दिए। किसी ने टोका तो उसी बेतकल्लुफ़ी से कहा—वाह, शुक्राना नहीं दोगे। एक रईस की पिलही जो कटी तो खूँटी से बढ़िया-सा दुशाला उतार कर चल दिए। राजा साहब के एक दूर के भाई थे निस्संतान। बरसों इलाज चला, झाड़-फूँक भी। हकीम साहब ने भी कोई अर्क-वर्क दिया।

गरमी में बच्चा पैदा हुआ तो हकीम साहब खुशी से उछलते-कूदते कमरे में आये और मुबारकबादियों की झड़ी बाँध एक क़ीमती गंगा-जमनी पानदान उठा कर चलते बने। बच्चा तो चंद घंटों बाद जहाँ से आया था, वहाँ वापस हो गया। पानदान वापस न हुआ। आख़िर हकीम साहब के सर से रियासत का साया उठ गया। उन्हें रुख़सत कर पुराने मौलवी मेहदी को बुलवाया गया।

इस तरह गाड़ी अच्छी चली जा रही थी। सर पर पिता का साया था। रियासती ठाठ-बाट था और मन में साहित्य का अनुराग पनप रहा था। कहीं कोई अड़चन न थी। तेरह वर्ष की उम्र में वज्राघात हुआ, राजा राजराजेश्वरी प्रसाद सिंह का (6 अप्रैल, 1903) देहावसान हो गया। पता चला कि रियासत पर ऋण का बोझ है। राधिकारमण प्रसाद सिंह और राजीवरंजन प्रसाद सिंह—दोनों भाई नाबालिग। इस्टेट कोर्ट ऑफ़ वार्ड्स के अधीन चला गया। दानों के लाले तो नहीं पड़े, लेकिन भविष्य अनिश्चित हो गया। राजा राजराजेश्वरी प्रसाद सिंह दोनों हाथों से लुटाते। कभी देखते भी नहीं कि कितने पानी में हैं। कवि

और संगीतज्ञ तो थे ही, इनके अलावा भी कितने ही फन के गुणी पल रहे थे।

दोनों भाई एकाएक आसमान से ज़मीन पर आ गिरे। जिनकी हर बात पर दुनिया पलट जाती उनकी कोई बात पूछने को भी रवादार नहीं रह गया। एक मुंशी देवीलाल थे जो दिलासा देते रहे—तुम्हारे भाग्य अच्छे हैं, जवानी आते ही मुश्किलों से भिड़ने का मौक़ा मिल गया। अभी इस ज़िन्दगी में जाने कितने घाट का पानी पीना पड़ेगा। आज ही छींकने लगे तो आगे कैसे निभाओगे ? लेकिन दादी और माँ नहीं चाहती थीं कि आँख के तारे पोते कहीं बाहर जायें। दुर्दिन ज़रूर आये लेकिन भगवान ने दाल-रोटी के लिए काफ़ी दे रखा है। मुंशी देवीलाल अपनी जगह अडिग थे। धैर्यपूर्वक समझाते—वह ज़माना गया कि घी का लड्डू टेढ़ा हुआ तो क्या और सीधा हुआ तो क्या ! अब तो उसमें भी कुछ रंग और बू चाहिए ताकि लोगों को वह रुचे। सिर्फ़ घी होने से ही अब क़दर नहीं होगी।

एक दिन आरा के गोरे कलक्टर साहब आये और दूसरे दिन फिटन गाड़ी से किशोर राधिकारमण को साथ आरा ले गये। साहब के बँगले से मिली-जुली एक कोठरी में गुज़र करनी पड़ी। बस, एक चौकी, एक चटाई, एक छोटी-सी आलमारी और छोटी-सी मेज-कुर्सी भी। अपने हाथों खटना पड़ा, अपने पैरों पर खड़ा होना पड़ा। कुएँ की जगत पर अपने हाथों पानी खींचना और नहाना। एक चपरासी साथ-साथ रहता आठों पहर। था वह सवर्ण राजपूत। बस, घड़े में पानी भरवा देता, बाज़ार से सुबह-शाम उसी दिन का भुना ताजा चना-चबेना ला देता। साहब बहादुर के यहाँ से फल या सलाद-सब्ज़ी आ जाती। दोनों जून की रोटी-दाल पास के एक ब्राह्मण परिवार से दस-बारह रुपये महीने पर आ जाती। शुद्ध घी और दही भी साथ रहता। हर हफ़्ते माँ को ख़बर भेज दी जाती कि लड़का मज़े में है और स्वस्थ भी। किसी रात आँधी-तूफ़ान आया तो मेम साहब अपने कमरे में ला रखतीं। स्नेह की छाया निरन्तर बनी रहती।

एक दिन साहब बहादुर दौरे पर गये तो मेम साहब भी साथ गयीं। बँगले पर दो चौकीदार और एक चपरासी रह गये। आसपास कहीं लौंडे का नाच था। चौकीदार राधिकारमण को भी साथ ले गया दो-दो रात। करता क्या ? अकेला छोड़कर जा नहीं सकता था और लौंडे का नाच छोड़ा नहीं जा सकता था। दौरे से साहब बहादुर लौटे तो किसी ने कान भर दिये। चपरासी उसी दम डिसमिस कर दिया गया। उसके बाद मेम साहब कभी दौरे पर नहीं गयीं राधिकारमण को अकेला छोड़कर।

अब शाम उनके साथ ही फुलवारी में कटती। कभी कैंची लिये फूल-पत्ते छाँटते, कभी कुदाल लिए कुछ कोड़ते-खानते। जब-तब मेम साहब भी हाथ बँटातीं। साहब पीठ थपथपाते—जी उड़ेल पढ़ो-लिखो और खेलो कूदो। कुछ

दिन बाद जब साहब का तबादला हुआ तो उन्हें भरोसा नहीं रहा कि नये अफ़सर यह जिम्मेदारी उठा भी पायेंगे। कोर्ट ऑफ़ वार्ड्स के डिप्टी कलक्टर बुलाये गये। एक अच्छा-सा मकान किराये पर ले लिया गया। नन्दकुमार बाबू अभिभावक रखे गये। वहीं पुराने पंडित और मौलवी साहब भी आ गये। छोटा भाई भी आ गया। माँ और दादी अक्सर आती रहतीं। नौकरों का सूर्यपुरा वाला काफ़िला तो नहीं रहा, फिर भी दो-चार बराबर साथ रहे। राधिकारमण ने मैट्रिक की परीक्षा आरा जिला स्कूल से 1907 में पास की।

साहब बहादुर चले गये लेकिन स्नेह की अमिट छाप छोड़ गये मन पर और जीवन पर। उस परिवार से सम्बन्ध जीवन-भर बना रहा। आगे चलकर राधिकारमण ने जो जीवन शैली अपनायी उस पर इन दिनों की गहरी छाप बरकरार रही।

सरकारी फ़ैसले और इंतजाम में उभरती जवानी के तीन-चार वर्ष निकल गये। एक अभिभावक की देखरेख में कलकत्ते (एलियट लेन) में मकान किराये पर लिया गया और राधिकारमण को 1907 में कॉलेज की पढ़ाई सेंट जेवियर्स कॉलेज में शुरू करनी पड़ी। राधिकारमण चाहते तो थे प्रेसिडेंसी कॉलेज में ही पढना। पर फ़ैसला आरा के कलक्टर के अधीन था। दोनों भाइयों को पता भी न था और युवक राधिकारमण का नाम सेंट जेवियर्स कॉलेज में लिखवा दिया गया तथा छोटे भाई राजीवरंजन का नाम सेंट जेवियर्स स्कूल में।

कॉलेज और स्कूल एक ही आलीशान इमारत के अन्दर थे ज़रूर पर एक-दूसरे से इतने अलग जैसे आकाश और पाताल। कॉलेज कलकत्ता विश्वविद्यालय के अधीन था और स्कूल था कैम्ब्रिज़ का पुछल्ला। कॉलेज के भीतर काले-ही-काले थे और स्कूल में गोरे-ही-गोरे। बरायनाम एकाध व्यतिक्रम था जैसे राजीवरंजन और आठ-दस काले छात्र। गोरे लड़कों की ही तरह सारे हिन्दुस्तानी छात्र भी कोट-पैंट ही पहनते। बस, राजीवरंजन डटे रहे धोती-कुर्ता की शान लिये। अध्यापकों ने स्कूल से निकालने के नये बहाने ढूँढ़े। पढ़ाई का माध्यम अंग्रेज़ी और एक स्कूल से आया हुआ बिहारी लड़का? कैसे चले क्लास में? लेकिन बचपन में ही रियासत के मैनेजर मिस्टर स्टीवेंस की पत्नी से अंग्रेजी की शिक्षा दिलाने की जो दूरदर्शिता पिता ने दिखायी थी, वह काम आयी।

कलकत्ता तो वही कलकत्ता था। लेकिन कहाँ वे दिन थे जब पिता के साथ दोनों भाई आया करते, साथ होता एक काफ़िला, घोड़ा-गाड़ी की सैर, थिएटर मे पूरा बाक्स रिजर्व कराया जाना। अब तो दोनों भाई साइकिल से स्कूल और कॉलेज जाते। पुरानी बातों को यादकर कुढ़ने के बदले ज़िन्दगी को खुली आँखों से देखने का, ज़िन्दगी का प्याला हँसी-खुशी पीने का हौसला बरकरार रहा। देखा था पिता को जो सामंती छलावा की दुनिया से बाहर भी देखते। पिता के निधन

के बाद सीख पायी थी मुंशी देवीलाल से।

पड़ोस में एक अंग्रेज़ मेजर साहब अपनी दूसरी हिन्दुस्तानी पत्नी के साथ रहते थे। साथ थी पहली पत्नी से जन्मी छोटी बेटी। शासकों की सभ्यता का एक नया पहलू सामने आया। गोरे साहब काले बाल पर लुटे थे और काली बीवी गोरे रंग पर। किसी के दोनों हाथ लड्डू न रहे। इधर खोया उधर पाया। इधर सूरज डूबा और बन-सँवरकर पत्नी निकली सैर-सपाटे के लिए। सनीचर की रात का तो पूछना ही क्या ! सौतेली बेटी नौकरानी की तरह पिसती रहती रात और दिन। और काली मेम साहब लाकर गोरे अफ़सर ने जो नादानी की थी उस पर शासक वर्ग दिल सिकोड़ बैठा था, सलाम तक लेने को रवादार नहीं।

उन दिनों कलकत्ते में स्वदेशी आन्दोलन की धूम थी। बंग-भंग की टेक लेकर यह उठी थी। इस देश की ज़िन्दा लाशों में एक स्पन्दन आया। क्रांतिकारियों का एक अलग गुट था—गुप्त समिति। उसका बल था—बम और पिस्तौल। खुदीराम बोस ने मुज़फ़्फ़रपुर (बिहार) में बम फेंका। दो अंग्रेज़ मारे गये। खुफिया पुलिस की सरगर्मी बढ़ी। कलकत्ते के मानिकतल्ले में बम का एक कारखाना निकल आया। एक ओर दमन-चक्र चला तो दूसरी ओर देशद्रोही भारतवासियों को सबक़ सिखाने के लिए 'स्वदेशी डकैती' का भी क्रम शुरू हो गया। कितने सरकारी अफ़सर हताहत हुए।

उस समय तक महात्मा गाँधी सत्याग्रह का अस्त्र लेकर भारतीय राजनीति में नहीं आये थे। कालेज के छात्रों में काफ़ी सनसनी रही। क्रांतिकारियों का एक पत्र भी निकलता था, देर-सवेर। एक भी प्रति किसी के हाथ लगी तो कालेज में लहर दौड़ जाती। 'फिरंगी-नाशक प्रेस' से छपी पत्रिका की प्रति लेकर लड़के क्लास में बैठ जाते। सामने की तीन-चार क़तार के लड़कों पर ज़िम्मेदारी रहती कि अपनी आँख, कान या जुबान से प्रोफ़ेसर साहब को बहलाये रखें उनके घंटे तक। उधर प्रोफ़ेसर साहब गला फाड़कर टर्राए जा रहे हैं, उधर पीछे के बेंचों पर हर एक की रगों के लहू को उबाल देती हुई पत्रिका फिर रही है हाथों हाथ। घंटी बजी और सामनेवाले लड़के पीछे आ गये तथा पीछे वाले सामने ताकि कोई भी पत्रिका को पढ़ने के सौभाग्य से वंचित न रह जाय।

कन्हाईलाल दत्त सेंट जेवियर्स का ही छात्र था। जब उसने जेल में सरकारी गवाह नरेन्द्र को गोली मारी तो सेंट जेवियर्स कॉलेज में खासी चहल-पहल रही। एक नया गीत बना जिसे छात्र मस्ती में भरकर गाते—

> आज खेली है बंगाल में कन्हैया ने होली,
> अब भूल गया रंग बरसाने का।

बीडन पार्क में लीडरों के भाषण होते। और छात्रों के साथ राधिकारमण भी

जाते, सभी के साथ मिल कर कोरस गाते द्विजेन्द्र लाल राय का 'आमार देश'। विपिन पाल, सुरेन्द्रनाथ और अरविन्द घोष को सुनने के लिए छात्र लालायित रहते। विपिन पाल की तूती बोलती, सुरेन्द्रनाथ की वाणी लौ उगलती, अरविन्द घोष की शांत सौम्य मूर्ति विश्वास जगाती। अरविन्द घोष के छोटे भाई वारिन्द्र घोष बम और पिस्तौल के क़ायल थे।

पत्रों में एक ओर था 'युगान्तर' जो प्रलयंकारी विद्रोह के लिए ललकारता। दूसरी ओर था अरविन्द घोष का 'बंदे मातरम'—नये-नये भावों की उद्भावना और परिकल्पना में अनूठा, नस-नस में भरा विप्लव का बीज मंत्र लेकिन परिवेश रहता न्याय के पक्ष-सिद्धान्त और दर्शन का। अरविन्द घोष के छोटे भाई वारिन्द्र घोष की अपनी अलग राह थी, लोग तो यहाँ तक कहते कि दोनों भाई सिर्फ़ दिखाने के लिए अलग-अलग रास्ते पर चल रहे हैं। दरअसल वारिन्द्र के पीछे अरविन्द का दिमाग़ काम कर रहा है।

युवक राधिकारमण को सबसे अधिक प्रभावित किया अरविन्द घोष की प्रखर बुद्धि, निष्ठुर युक्ति तथा स्वतंत्र और उर्वर लेखनी ने। 'बंदे मातरम' के नियमित पाठक तो बने ही उनसे मिलने भी जाते रहे और जब भी मिलकर आते तो लगता झोली भर लाये हैं। कभी अपने को धिक्कारते लौटते तो कभी कुछ सँजोये। उच्छ्वास खोते, विश्वास पाते।

आरा (बिहार) के कलक्टर की ओर से नियुक्त अभिभावक मास्टर साहब धार्मिक प्रवृत्ति के तो थे ही, ज़माने की हवा का रुख़ भी पहचानते थे। दक्षिणेश्वर और बेलुड़ से चक्कर काटकर रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द के साथ-साथ श्रीमती एनी बेसेंट की भी तस्वीर ले आये। दोनों भाइयों के पढ़ने के कमरे में तस्वीरें टाँगी गयीं। मौक़ा मिलता तो उनकी जीवनी और दर्शन पर भी प्रकाश डालते। 'बंदे मातरम' और 'कर्मयोगी' में प्रकाशित लेखों की चिन्तन-प्रक्रिया और भारतीय विचारधारा तथा दर्शन की भी व्याख्या होती। मेजर साहब की बेटी आती, इन बातों को सुनती और गुनती। पाश्चात्य शैली का एक रूप वह अपने घर में देख और भोग रही थी। स्वाभाविक ही था कि भारतीय दर्शन और चिंतन को जीवन के लिए वह अधिक उपयुक्त समझती। उसके इस परिवर्तन पर मेजर साहब की जो प्रतिक्रिया हुई होगी उसकी कल्पना कठिन नहीं।

बचपन में साहित्य के प्रति जिस अनुराग ने जन्म लिया था उसके अंकुरित होने का समय आया। विचारों और उद्गारों को युवक राधिकारमण ने क़लम-बन्द करना शुरू किया। भाषा की क़ैद तो थी नहीं। कभी बाङ्ला में लिखते, कभी ब्रजभाषा में और कभी अंग्रेज़ी में। कभी कृति मौलिक होती तो कभी अनुवाद। कापियों की संख्या बढ़ने लगी।

तभी एक दिन मेजर साहब अपनी घड़ी मिलाने आये और पढ़नेवाले कमरे

तक पहुँच गये। दीवारों पर लगे चित्रों और 'बंदे मातरम' की फ़ाइलों को देखकर माथा ठनका। समझते देर नहीं लगी कि अंग्रेजी साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ यहाँ भी बीज अंकुरित हो गया है। भारतीय चिंतन और विचारधारा के प्रति अपनी बेटी के लगाव का रहस्य भी खुल गया।

एफ. ए. (बाद में आइ. ए.) में उन्होंने कॉलेज बदल लिया और स्कॉटिश चर्च कॉलेज के छात्र बन गये। कॉलेज घर से मीलों दूर एक बंगाली पाड़े (मोहल्ले) के भीतर। आने-जाने में परेशानी तो होती ही, शाम की टेनिस के लिए भी समय नहीं बचता। स्वास्थ्य कितना बोझ सहता? स्वास्थ्य गिर गया। लेकिन वह जवानी भी क्या जो इनसबमें मजबूर हो। कॉलेज से लौटकर सभाओं में जाना और नाटकों के रिहर्सल में भाग लेना जारी था। एक दिन मेजर साहब की बेटी ने कहा—"डैडी कह रहे थे कि यहाँ का हवा-पानी तुम्हारे अनुकूल नहीं।" युवक राधिकारमण ने हँसकर बात टाल दी। चार-पाँच दिनों बाद क्लब से लौटने पर पता चला कि आरा के कलक्टर साहब हाल-चाल पूछने तीसरे पहर तशरीफ़ लाये थे। स्थानीय अभिभावक मास्टर साहब के साथ तलाशते हुए कॉलेज के पड़ोस तक गये भी। लेकिन हदुआ तालाब के पास एक मीटिंग का ऐसा समारोह देखा कि उल्टे पाँव लौट पड़े। मास्टर साहब ज़िलाधीश को स्टेशन पहुँचा कर जब घर लौटे तो रात काफ़ी बीत चुकी थी। बात खुली नहीं। उन दिनों द्विजेन्द्रलाल राय के 'शाहजहाँ' के रिहर्सल में युवक राधिकारमण इतना व्यस्त था कि अधिक जोह-टोह की फ़ुरसत ही नहीं मिली।

एक रात रिहर्सल से लौटते देर हो गयी। ज़ोरों की बारिश। गली में दोनों ओर किवाड़ बन्द। सिर्फ़ उनके मकान के सामने चहल-पहल। सामान से लदी पालकी गाड़ी खड़ी। कोई आया तो नहीं? जवाब में मास्टर साहब की मीठी झिड़की सुनाई पड़ी—"दस बजे के गये अब आ रहे हैं आप। नाहक़ बदनाम रहा कलकत्ता। आपने अपने हाथों अपनी सेहत बिगाड़ ली।"

मास्टर साहब ने गाड़ी का पल्ला खोल अन्दर बिठा लिया। गाड़ी चल पड़ी। रियासत थी कोर्ट ऑफ़ वार्ड्स के अधीन। कलक्टर का आदेश ललाट का लेख रहा। परसों तक आगरा पहुँचना था। वहाँ कॉलेज में भर्ती होने की यही आखिरी तारीख़ दे रखी थी प्रिंसिपल ने। शायद प्रत्यक्ष कारण था गिरता हुआ स्वास्थ्य और परोक्ष कारण था विप्लव के मूल बंगाल का निवास और इस तरह कलकत्ता छूट गया।

आगरा आने पर पता चला कि 'बंदे मातरम' की फ़ाइल तो ग़ायब थी ही, अनुवाद और मौलिक लेखनवाली सारी कापियाँ भी नदारद थीं। युवक हृदय को कैसा झटका लगा होगा? एकाध महीने सुध-बुध तक डावाँडोल रही। पैर ही नहीं, जी तक उखड़ गया। पर जमते-जमते जी जम ही गया आगरे की नयी दुनिया में।

'दिल ही तो था, बहल गया, जी ही तो था सँभल गया।'

पनपता हुआ लेखक विधाओं को टटोलने लगा। नजर मुड़ी कहानी की ओर। और 1911 में राधिकारमण प्रसाद सिंह की पहली कहानी 'कानों में कंगना' आगरा कॉलेज की पत्रिका में छपी जो बाद में (1913) 'इन्दु' नामक पत्रिका में प्रकाशित हुई। उस कहानी ने हिन्दी जगत में धूम मचा दी। शीर्षक तो चौंकानेवाला था ही। पढ़ने पर कहानी मर्म को भी झकझोरती थी। हिन्दी जगत के लिए ऐसी कहानी अभूतपूर्व घटना थी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और प्रसिद्ध आलोचक मिश्र बंधुओं ने मुक्त कंठ से सराहना की। बहुत वर्षों बाद स्व. श्री मैथिलीशरण गुप्त ने संसद-सदस्यता काल में उनके ज्येष्ठ पुत्र श्री राजेन्द्र प्रताप सिंह (भूतपूर्व सांसद) को हँसकर बताया कि उस कहानी से वे इतने प्रभावित हुए कि लेखक से मिलने आगरा गये और चकित-विस्मित रह गये जब पान खाये हुए एक नौजवान को सामने पाया। पान का व्यसन तो कलकत्ते में ही लग चुका था जो आजीवन उनके साथ रहा। (यह ध्यान रहे कि उस समय तक प्रेमचन्द ने हिन्दी जगत में प्रवेश नहीं किया था।)

बी. ए. की पढ़ाई पूरी करने युवक राधिकारमण आ गये इलाहाबाद— म्योर सेंट्रल कॉलेज। सरस्वती पूजा के अवसर पर महामहोपाध्याय सर गंगानाथ झा के घर एक दिलचस्प नाटक खेलने की चर्चा छिड़ी। नाटक लिखने की ज़िम्मेदारी सौंपी गयी युवक राधिकारमण को। पाँच-छः दिनों की कड़ी मेहनत के बाद एक प्रहसन तैयार हो गया। नाम रहा 'नये रिफ़ॉर्मर' (नवीन सुधारक)। चित्रण था पाश्चात्य सभ्यता की ओट में विलासिता का दामन पकड़नेवाले उन छात्रों का, जो सीधे-सादे ग्रामीण बाप से रुपया मँगाकर शहरों में मौज़ करते हैं।

नायक की भूमिका अदा कर रहे थे उनके ही सहपाठी महावीर प्रसाद (भूतपूर्व एडवोकेट जनरल, बिहार)। नाटक बहुत ही सफल रहा, यारों ने बधाई दी, बुजुर्गों ने शाबाशी। पटना, कलकत्ता, आरा, आगरा आदि शहरों में छात्रों के बीच नाटक लोकप्रिय हो गया। लेकिन दुर्भाग्यवश, लेखक के पास उसकी कोई प्रति ही नहीं बची। नाटक प्रकाशित हुआ नहीं था। बहुत दिनों बाद काशी नागरी प्रचारिणी सभा में मासिक 'मनोरंजन' की फ़ाइलों से उसे ढूँढ़ निकाला प्रो. शत्रुघ्न प्रसाद ने। यह कृति राधिकारमण ग्रंथावली के पाँचवें खण्ड में प्रकाशित है। राधिकारमण का विवाह 1911 में हुआ, चाँदी (आरा, बिहार) निवासी स्व० श्री जगतानन्द सहाय की सुपुत्री श्रीमती ललिता देवी के साथ।

उनकी बी. ए. की पढ़ाई इलाहाबाद में पूरी हुई और संस्कृत में स्वर्णपदक भी मिला। एम. ए. की पढ़ाई के लिए पटना आना पड़ा। कलकत्ता विश्वविद्यालय से पटना कॉलेज, पटना के एक छात्र की हैसियत से उन्होंने 1914 में इतिहास में एम. ए. की परीक्षा पास की।

इसी बीच सृजनात्मकता दिशा ढूँढ़ती रही। नाटक छूट गया। कहानी और उपन्यास की ओर ध्यान गया। उन्हीं दिनों 'कुसुमांजलि' (कहानी संग्रह-1912) तथा नवजीवन/प्रेमलहरी (लघु उपन्यास-1912) रचनाएँ लिखी गयीं।

1916 में रियासत ऋणमुक्त हो गया और अंग्रेज़ी सरकार ने कोर्ट ऑफ वार्ड्स के अधीन सूर्यपुरा स्टेट का उन्हें मैनेजर बना दिया। 1918 में कोर्ट ऑफ़ वार्ड्स से मुक्त रियासत का भार राधिकारमण के हाथों में आ गया। अंग्रेज़ी सरकार ने 1920 में उन्हें 'राजा' की उपाधि से विभूषित किया। इसी दौरान 'तरंग' शीर्षक लघु उपन्यास लिखा गया।

पिता के समय के रियासती ठाटबाट और शाही खानपान का नतीजा वह अपनी आँखों देख चुके थे। गरिष्ठ और चटपटे भोजन से हाज़मा ख़राब रहा करता था। रियासत पर ऋण का भारी बोझ था। इसलिए रियासत का कार्यभार सँभालते हुए उन्होंने अपनी जीवन-शैली बदल डाली। रियासत थी तो प्रतिष्ठा के अनुकूल मेहमाननवाजी भी करनी पड़ती। इसलिए वे अपने लिए बहुत ही कठोर नियम और संयम बरतने लगे। दिनचर्या कुछ इस प्रकार थी : सुबह चार बजे उठकर शौचादि से निवृत्त हो नहर के किनारे दो मील तक छड़ी घुमाते टहलना। बँगले तक लौटते-लौटते मिलने-जुलनेवालों की संख्या काफ़ी हो जाती। प्रत्येक का काम निबटाते जाते। लेकिन ताँता लगा ही रहता। लगातार काम करते जाते। बारह बजे नौकर सारे शरीर में सरसों के तेल की मालिश करता। नाश्ते में शहद मिला छेना, कुछ सूखे मेवे। बस ! एक बजे दिन का भोजन होता—सादा। दो बजे तक विश्राम करने के बाद कचहरी में आकर जम जाते।

उस समय यह प्रथा थी कि रैयत अगर कुछ निवेदन करने आता तो वह ख़ाली हाथ नहीं आता। एक या दो रुपये सलामी के तौर पर टेबुल पर रखकर ही कुछ निवेदन करता। रियासत के मालिक मेहरबान हुए तो बात सुनी गयी, कुछ फल मिला। राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह के सामने भी रैयत इसी प्रकार अपना दुखड़ा सुनाया करते। रुपये टेबुल पर एक ओर पड़े रहते। राजा साहब उन्हें गिनते भी नहीं। रैयत निवेदन करते, आदेश पाते और चल देते।

रियासत का काम करने में वे तत्परता तो बरतते पर मशीनी निर्वैयक्तिकता नहीं थी। एक भावुक हृदय सदा स्पंदित होता रहता। एक बार एक विश्वासी नौकर ख़ज़ाने से रुपया चोरी करने के अपराध में पकड़ा गया। राजकचहरी में पेशी हुई। नौकर ने सफ़ाई दी कि बीमार पत्नी की दवा के लिए उसने दवा की क़ीमत भर रक़म ही निकाली है। खजाना खोलकर देखा गया। उतने ही रुपये कम थे। सभी की राय हुई कि ऐसे विश्वासघाती को जेल की सज़ा होनी चाहिए। दीवान जी उतावले हो उठे। सभी के सामने अपराधी ने अपना जुर्म क़बूल कर लिया था। अब भला किस बात की देर? उसे सीधे थाने पहुँचाना चाहिए। हुक्म

की प्रतीक्षा में सभी राजा साहब का मुँह देखने लगे। राजा साहब ने चुप्पी तोड़ी। कहा, "मुंशी जी, तब इसकी जवान बीवी के साथ आप ही सोइयेगा।" सारा वातावरण अट्टहास से भर गया। नौकर को माफ़ी दे दी गयी।

उनके दफ़्तर में एक अनाथ युवक भगवत प्रसाद काम करता था। राजा साहब की ही कृपा से वह अपने पैरों पर खड़ा हो सका था। नौजवान की शादी हुई। पत्नी उसके गाँव आयी और पति यहाँ सूर्यपुरा रियासत के दफ़्तर में नौकर। महीना-डेढ़ महीना बीतता और राजा साहब चुपके से दस-पन्द्रह रुपये पकड़ाकर उसे घर भेज देते। युवक नज़रें नीची किये ना-नुच करता, फिर मन-ही-मन मुस्कराकर गाँव की राह पकड़ता। रियासत के अन्य कर्मचारी देखते और जल-भुन जाते। काना-फूसी भी होती। एकाउंटेंट साहब को भी लगता कि मालिक की इस सीधी कृपा के कारण अपने मातहतों पर उनकी पकड़ ढीली हो जायेगी। एक दिन मौक़ा पाकर एकाउंटेंट साहब ने छेड़ा—"सरकार, भगवत प्रसाद इतनी जल्दी-जल्दी छुट्टी पर चला जाता है। काम में तो हर्ज होता ही है, बाक़ी लोग भी कुड़कुड़ाते हैं।" राजा साहब मुस्कराये। नज़रें नीची ही रखीं और कहा—"मैं जानता हूँ कि उसका काम हमेशा अपटुडेट रहता है। अरे एकाउंटेंट बाबू, आप अपनी जवानी के दिनों की याद कीजिये।"

शाम के चार बजे पिता के नाम स्थापित हाई स्कूल की बारी आती। ग्यारहवीं कक्षा के छात्रों को वह ख़ुद अंग्रेजी पढ़ाते। फिर खेल के मैदान में आ जाते। कॉलेज के ज़माने में टेनिस, हाकी और क्रिकेट के ख़ुद अच्छे खिलाड़ी थे। बच्चों के साथ खुलकर खेलते। फुटबाल का खेल होता तो मैदान के बाहर कुर्सी पर बैठकर देखते।

कभी-कभी होस्टल भी पहुँच जाते। चौके में जाकर पूछते कि बच्चों के लिए क्या खाना बना है। छात्रों के साथ तख़्त पर बैठकर कभी अंग्रेज़ी मुहावरों के अर्थ पूछते और प्रयोग बताते तो कभी उम्र देखकर पूछ बैठते—'शादी हुई है या नहीं? बाल-बच्चे?' छात्र सर झुकाये इशारों में उत्तर देते। जो लड़का प्रथम श्रेणी में मेट्रिकुलेशन परीक्षा पास करता उसे अपने बँगले पर बुलवाते। उसकी जेब में चुपके से कितना रखते यह तो वही जानें। हाँ, सभी देखते और सुनते कि एक ही परिवार का एक बुज़ुर्ग अपने होनहार लाड़ले से घुलमिलकर बातें कर रहा है, उसे मिठाई खिला रहा है।

उन दिनों रजवाड़ों और बड़े जमींदारों का तो यह सिलसिला था कि 'सरकार' के सामने जाने से लोग डरा करते थे। सूर्यपुरा रियासत के राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह का यह हाल था कि हर किसी को उनसे मिलने की छूट थी। वे सभी को अपना समझते थे। सभी उन्हें अपना मानते।

बात 1930 की है। सूर्यपुरा हाई स्कूल का विशाल भवन बन रहा था। हॉल

की छत के लिए 34 फीट लम्बे, डेढ़ फुट मोटे और 6 इंच चौड़े गार्टर 22 फीट ऊँची दीवार पर चढ़ाने थे। सूर्यपुरा ठहरा गाँव। शहरी सुविधा उपलब्ध नहीं। क्रेन का ज़माना नहीं। लेकिन राजा साहब को वहाँ के नौजवानों पर भरोसा था। उन्होंने गाँव के नौजवानों को ललकारा। मोटे-मोटे रस्से जुटाये गये। बाबूलाल साव ने मिठाइयों से भरे थाल सजाये। व्यवस्था में देर हो गयी और शाम सिमट आयी। कोई बात नहीं। 'डे लाइट' जलवाये गये। राजा साहब की देख-रेख में युवा पीढ़ी जूझी। 'जय महावीर' का घोष गूँजा और सभी गार्टर यथास्थान रख दिये गये। जवानों की पीठ ठोंकते हुए राजा साहब ने मिठाइयों के थाल आगे बढ़ा दिये।

स्वर्गीय पिताश्री के नाम पर स्थापित इस स्कूल से विशेष ममता थी। रियासत की ओर से प्रतिवर्ष सौ रुपये ग़रीब छात्रों को पुस्तक देने के लिए, सौ रुपये नाटक के लिए, सौ रुपये आगन्तुकों के स्वागत-सत्कार के लिए और सौ रुपये प्रतिमाह ग़रीब मेधावी छात्रों के भोजन के लिए दिये जाते। वह कैसा ज़माना था इसकी कल्पना इस एक बात से ही लगायी जा सकती है कि उस समय छात्रावास में सिर्फ़ चार रुपये महीने पर भोजन मिला करता था।

इस दौर में राजा साहब को सामान्य जन-जीवन के मूल्यों को नजदीक से देखने और बेहतर समझने का मौक़ा मिला। अभी तक जो कुछ देखा-समझा था उस पर किशोरावस्था थी, रूमानियत की परत चढ़ी थी। अब ज़िन्दगी बेनक़ाब सामने खड़ी थी। मुंशी देवीलाल का स्वर्गवास हुआ अस्पताल में। ये वही थे जो राजा राजराजेश्वरी प्रसाद सिंह के ज़माने में 'सरकार' के मामा होने के नाते सभी के मामा या बाबा कहलाते थे। ये वही मुंशी देवीलाल थे जिन्होंने दस की भलाई के लिए जीवन में क्या-क्या नहीं सहा था। और उनका शव पड़ा था। जब रियासत की ओर से छुट्टी का ऐलान हुआ तो कोई अपने नौकर को भेज वगैरी मँगवाने लगा। आकस्मिक छुट्टी का मज़ा उठाने के लिए तरह-तरह के उपाय सोचे जाने लगे। शवयात्रा तक के लिए लोगों को 'खाने-पीने' का लालच देना पड़ा। शाम हो गयी। लोग खा-पीकर आये। तभी लाश उठी। ये सारे पात्र, इनकी आशा-निराशा, इनका हर्ष-विषाद उनकी सृजनात्मकता का कच्चा माल बना, कभी उपन्यास के पात्रों के रूप में तो कभी संस्मरणात्मक चित्रों में।

शाम को साहित्य-चर्चा होती। सूर्यपुरा हाईस्कूल के अध्यापकों के साथ और लोग भी आ जाते। रीतिकाल के कवियों पर विचार-विमर्श होता। भोजनोपरांत 'ब्रिज़' जमता और रात के दस बजे तक चलता। फिर सभी घर जाते तो आधी रात तक अध्ययन और लेखन का कार्य चलता। वैसे वे दिन भर अपनी सृजन-प्रक्रिया से जुड़े ही रहते थे। मालिश भी करा रहे हैं और कोई बात सूझ गयी तो तुरत टीप ले ली—कभी आयी हुई चिट्ठियों पर तो कभी काग़ज़ के टुकड़े पर।

वह चमकती भूख और बेहोश कर देनेवाली नींद के लिए आजीवन तरसते ही रहे। कठोर संयम और नियमित व्यायाम आदि के बाद भी इस कमी की पूर्ति न हो सकी। दिन-भर की मेहनत और थकान से चूर बेसुध सोये नौकरों को वे कभी नहीं जगाते, एक हसरत भरी नज़र से देख लेते और अपना काम ख़ुद निपटा लेते। स्कूल के बच्चों को भरपेट मिठाई खिलाकर असीम परितृप्ति पाते।

1922 में जब वह शाहाबाद (आरा, बिहार) के डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के पहले चेयरमैन बने तो सार्वजनिक जीवन की शुरुआत हुई। गाँधी जी भारतीय राजनीति में आ चुके थे। एक नयी चेतना का संचार हुआ था। आम जनता के हितों की बात खुलकर की जाने लगी थी। 28 जनवरी, 1927 को गाँधी जी (आरा, बिहार) आनेवाले थे। राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह ने डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की तरफ़ से गांधी जी को अभिनन्दन-पत्र देने का फ़ैसला किया, बोर्ड की बैठक में बाक़ायदा प्रस्ताव रखा। दो-चार गोरे अफ़सर और उनके कुछ चमचों की बनी नहीं। प्रस्ताव बाक़ायदा पास हो गया। वे मुँह देखते रह गये। सरकारी फ़ाइलें चलीं। लेकिन तब तक 28 जनवरी आ गयी और गाँधी जी की सेवा में अभिनन्दन-पत्र समर्पित किया गया। लाट साहब के यहाँ से तलबी हुई और डिस्ट्रिक्ट बोर्ड से 1928 में उनका सम्बन्ध टूट गया।

वह अभिनन्दन-पत्र अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज़ है। उस समय भी राजनीति में गाँधी के योगदान को कितनी दूरदर्शिता से आँका गया और राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह ने अंग्रेज़ी सत्ता की सीधी मुख़ालफ़त किये बिना भी सार्वजनिक जीवन में कितने बहुमूल्य कामों की शुरुआत की। उस अभिनन्दन-पत्र के कुछ अंश हैं :

> "भारत के सुदूर तट से आती हुई अहिंसा की मर्मभेदिनी ध्वनि को सुनकर पाश्चात्य जगत की भौतिक साधना की विराट व्यर्थता आज रह-रहकर उभर आती है उसके दृष्टिपथ पर अनायास—चौंका देती है उसकी बुद्धि, अनुभूति को भी।
>
> × × ×
>
> आपको यह जानकार प्रसन्नता होगी कि हमारे बोर्ड ने लड़के और लड़कियों, दोनों ही के प्राइमरी स्कूलों में, जहाँ तक अभी तक संभव हो सका है, चर्खे की शिक्षा और प्रचार का प्रबन्ध किया है और कुछ महीने हुए एक परीक्षा द्वारा होनहार लड़कों में पारितोषिक वितरण कर उत्साह बढ़ाया है।
>
> × × ×
>
> हम सब अंत्यजों की भी दशा सुधारने की कोशिश में हैं और उनकी शिक्षा का भी उचित प्रबन्ध करना बोर्ड अपना ख़ास कर्त्तव्य समझता है।
>
> × × ×

राष्ट्र के अन्तर में आत्मबल का संचार, राजनीति के मंदिर में आध्यात्मिकता की प्राण-प्रतिष्ठा—यह आपका गौरव-दान जगत के इतिहास में स्वर्ण अक्षरों में अंकित होकर अजर-अमर रहेगा। संसार का संन्यास से, व्यवहार का विराग से अपूर्व मिलन सार्थक हो।"

निःस्वार्थ जन-सेवा का एक पुरस्कार तो मिला डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के चेयरमैन पद से त्यागपत्र देने की मजबूरी। दूसरा पुरस्कार मिला 'बिहार हरिजन सेवक संघ' की देख-देख। बिहार के सक्रिय गाँधीवादी नेता ने यह दायित्व गाँधी जी के इशारे पर ही उन्हें सौंपा था।

सार्वजनिक कार्य में वह इस लगन और उत्साह से जुड़े कि कमज़ोर स्वास्थ्य और कमज़ोर हो गया। लेखन कार्य तो प्रायः बंद ही हो गया। इस बीच घटनाओं ने नया मोड़ लिया। तभी श्री शिवपूजन सहाय से मित्रता हुई और वह उन्हें बार-बार उपन्यास-लेखन के लिए प्रोत्साहित करते रहे। ख़राब स्वास्थ्य ने सार्वजनिक कार्यों में गति धीमी करने को मजबूर किया। लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण बात थी अंग्रेज़ीदाँ दोस्तों की फ़िरकेबाजी और चुनौती। बात 1935 की है। चन्द दोस्तों के साथ फिल्म के पर्दे पर 'थैकरे' का 'वैनिटी फ़ेयर' देखकर राजा साहब लौटे। चर्चा चली तो लोग हिन्दी की खिल्ली उड़ाने लगे—आख़िर हिन्दी की बिसात ही क्या है? अभी दुधमुँही बच्ची, महज़ दो-चार हाथ फुदकने लगी है। यूरोपीय व्योमविहारी उड़ाकों के पहलू में पर मार सकती है भला?

राजा साहब को बात लग गयी। छः महीने का वक़्त माँगकर जोड़-तोड़ की सरापा नयी बानगी पेश करने का बीड़ा उठा लिया। एक मित्र के घर कथानक का सूत्र मिल गया। लेखन का काम शुरू हुआ सूर्यपुरा में।

लेकिन वर्ष के पूर्वार्ध में ही राजा साहब सांघातिक रूप से बीमार पड़े। लेकिन तो भी वे लिखने से बाज़ नहीं आते थे। डाक्टरों ने पढ़ने-लिखने की सख़्त मनाही कर दी। छोटे भाई कुमार साहब ने पूर्ण विश्राम दिलाने की ठानी और कड़ा पहरा रखा। कोई पास फटक नहीं सकता था। देह सूखकर लकड़ी हो गयी थी। ज्योतिषियों के अनुसार मार्केश का योग आ जुटा था। सभी लोग उनके जीवन के लिए चिंतित हो उठे थे। महामृत्युंजय का जाप शुरू करा दिया गया था।

तय हुआ कि आबोहवा बदलने के लिए उन्हें पहाड़ पर ले जाया जाये। कुमार साहब ने व्यवस्था की। नैनीताल में एक बड़ा-सा मकान किराये पर लिया गया और मई महीने के अन्त तक कुमार साहब पूरे परिवार सहित नैनीताल पहुँच गये।

इधर राजा साहब का साहित्यकार भी चौकस था। मनबहलाव के लिए कोई साथी तो चाहिए। हाई स्कूल के प्रधानाध्यापक शिवमंगलसिंह को भी राजा साहब ने साथ ले लिया। विश्राम के क्रम में अस्पतालों वाला नियम ही लागू था राजा

साहब पर। शिवमंगल सिंह भी दिन भर में एकाध घंटे ही राजा साहब के पास उठ-बैठ सकते थे। बँगले के आउट हाउस में एक कमरा शिवमंगल सिंह को दे दिया गया था।

विश्राम में बाधा न पड़े इसलिए राजा साहब ने अपने कमरे की खिड़कियों के शीशों पर कागज़ लगवाया। मोटे पर्दे लगाये गये। कुमार साहब ने स्वयं इसकी देखभाल की। राजा साहब उस विशाल बँगले के एक कमरे में बन्द, जैसे किसी अस्पताल में हों। कुमार साहब की ऐसी हिदायत और देखरेख कि किसी भी तरह के व्यतिक्रम का सवाल ही नही उठ सकता। पढ़ना-लिखना भी बन्द। बस, पूर्ण विश्राम।

कुमार साहब रात के नौ बजे खा-पीकर सो जाते। नींद की कमी तो राजा साहब को शुरू से थी। उनका जगा रहना स्वाभाविक ही था। सभी जानते थे कि उनको नींद कम आती है और रात भीगने पर ही आती है। नौकरों से जब इतमीनान हो जाता कि कुमार साहब सो गये तो नौकरों को भी वे छुट्टी दे देते। फिर चुपके से दरवाज़ा खोलकर आउट हाउस में शिवमंगल सिंह का दरवाज़ा धीरे-धीरे खटखटाते। जब दरवाजा खुलता तो होठों पर उँगली रखकर कुछ न बोलने का संकेत करते हुए वे शिवमंगल सिंह को अपने कमरे में ले आते। दरवाज़ा बन्द कर साँसी में राम-रहीम का डिक्टेशन शुरू हो जाता। नैनीताल में ही दीवाली मनाकर जब ये लोग सूर्यपुरा लौटे तो शिवमंगल सिंह के पास थी राम-रहीम की पांडुलिपि और राजा साहब को मिल गया था उनका खोया हुआ स्वास्थ्य। बाबू शिवपूजन सहाय ने इसका संपादन किया था और 990 (डबल क्राउन साइज) पृष्ठों का यह उपन्यास नवम्बर 1936 में प्रकाशित हो गया।

यह उपन्यास राजा साहब की श्रेष्ठतम कृति है और उनकी सृजनात्मक प्रक्रिया तथा चिंतन की सफलतम अभिव्यक्ति। यह उपन्यास अन्य उपन्यासों से अलग हटकर एक नये जमीन की भी तलाश करता है क्योंकि इसमें लेखक के सामने दो लक्ष्य थे—उस युग के आचार, उस युग के अत्याचार, उस युग के विचार और उस युग की पुकार को वाणी कैसे दी जाय। दो जीती-जागती स्त्रियों के जीवन-पट पर प्रस्फुटित करने का प्रयास और अपनी विचारधारा के अनुसार विश्लेषण तथा टीका-टिप्पणी। लेखक ने दोनों धरातलों पर असाधारण सफलता पायी। यह जरूरी नहीं कि पाठक लेखक की विचारधारा को मान लें। लेकिन लेखक की ईमानदारी तो अपना सिक्का जमा ही लेती है और दोनों स्त्रियों—बेला और बिजली का जीवनवृत्त तो हमारे मर्म को बार-बार झकझोरता ही है। अनायास मुँह से निकल भी पड़ता है—हाय! बेचारी!

फिर तो सभी दुविधाओं का एक साथ निवारण हो गया। राजा साहब ने अपना सारा समय लेखन को ही समर्पित कर दिया। राजा साहब उन भाग्यशाली

लेखकों में रहे जिनकी सभी रचनाओं का प्रकाशन हो गया है। वरा, छूट गये हैं तो वे पत्र, जो वह दिल खोलकर लिखा करते थे।

उनकी कृतियों के प्रकाशन के सम्बन्ध में एक रोचक घटना का जिक्र किये बिना शायद बात अधूरी रह जायेगी। जब श्री शिवपूजन सहाय प्रकाशन के लिए बज़िद हो गये तो राजा साहब ने बड़ी विनम्रता से अर्ज किया कि पिता की रचनाओं को प्रकाशित करने के पहले वह यह काम नहीं कर सकते। तब शिवपूजन सहाय को राज़ी होना पड़ा और राजराजेश्वरी ग्रंथावली का प्रकाशन उनके सम्पादकत्व में सम्पन्न हो गया।

इसके बाद भी लेखन-कार्य निरंतर चलता रहा। गतिविधि सोलह आने साहित्य को समर्पित रही। सभाओं, संस्थानों और स्कूल-कॉलेज के अनुष्ठान एक तरफ़, लेखन दूसरी तरफ़। उपन्यासों और कहानियों में 1951 तक उलझे रहे। नाटक का पुराना शौक़ कहीं अन्तर में सोया पड़ा था। यह विधा ही ऐसी है कि प्रदर्शन के समय हाड़-मांस का जो तीसरा आयाम सामने आता है वह भुलाये नहीं भूलता। 'नये रिफ़ॉर्मर' की सफलता का स्वाद कॉलेज के दिनों में ही चख चुके थे। नाटक की तरफ़ फिर 1953 में मुड़े और दो नाटक लिखे भी। लेकिन अन्ततः कहानियों और उपन्यासों ने अपना सिक्का जमा लिया। हालाँकि 1962 में एक नाटक फिर सामने आया। दस कहानी संग्रह, ग्यारह लघु और वृहत् उपन्यास, चार प्रहसन और नाटक तथा संस्मरण, लेखों और भाषणों को मिलाकर तीस कृतियाँ प्रकाशित हुई, जिन्हें राजा राधिकारमण ग्रंथावली के पाँच खण्डों में संकलित किया गया है।

(प्रकाशित कृतियों का समयानुक्रम, परिशिष्ट 'ख' में द्रष्टव्य)

राजा साहब से मेरी पहली मुलाक़ात मार्च, 1950 में नाटकीय ढंग से हुई। राजा साहब की प्रेरणा से 'नई धारा' (हिन्दी मासिक पत्रिका) का प्रकाशन शुरू होनेवाला था। सम्पादक चुने गये थे रामवृक्ष बेनीपुरी। उन्होंने मुझे अपना सहायक चुना था और 'नई धारा' के संरक्षक से मिलाने बेनीपुरी जी अपने साथ मुझे ले जा रहे थे।

राजा साहब की कृतियों से अपरिचित नहीं था। उनके व्यक्तित्व की रूपरेखा भी कुछ अजीब क़िस्म की थी दिमाग़ में, लेकिन सब सुनी-सुनायी। हम लोगों के साथ अन्य लब्ध प्रतिष्ठ साहित्यकार भी चल रहे थे राजा साहब से मिलने— दिनकर जी और शिवपूजन सहाय एक रिक्शे पर, आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री किसी के साथ दूसरे रिक्शे पर आदि-आदि। सहसा पान की एक दुकान पर बेनीपुरी जी ने रिक्शा रुकवाया और शिवपूजन बाबू से कहा—भैया, आप लोग चलिये। मैं पान लेकर आ रहा हूँ। मैंने देखा सभी मुस्करा रहे हैं। बेनीपुरी जी से पूछा—राजा साहब आप लोगों को पान नहीं खिलायेंगे ?

—खिलायेंगे क्यों नहीं । पर आप खा सकेंगे ? कत्थे में जाने क्या-क्या मिलाया हुआ, जर्दे में कूटा हुआ बादाम । खायेंगे ?

क़हक़हा लगाकर बेनीपुरी ने पीठ पर एक धौल लगाया । जब हम लोग पहुँचे तो बड़े अनौपचारिक ढंग से मुझसे कुछ बात हुई । उन्हें यह जानकर विशेष दिलचस्पी हुई कि मैंने साहित्य में प्रवेश पाया नाटक की विधा से और बाङ्ला···। अन्त में बेनीपुरी जी ने बताया कि मै शिवपूजन बाबू का बड़ा जामाता हूँ । राजा साहब की आँखें चमक उठी । सहसा एक नयी किरण फूटी । सहसा मुस्कराकर राजा साहब ने कहा—शिवजी मेरे बड़े भाई है । मैंने कुर्सी से उठकर पाँव छुए तो बेनीपुरी जी ने क़हक़हा लगाया—'अब सलामी दीजिये दामाद को ।' इक्यावन रुपये सलामी के मिले । स्नेह का यह पारिवारिक सम्बन्ध आज भी बना है ।

रामनवमी (अप्रैल, 1950) के दिन 'नई धारा' का उद्घाटन समारोह था । प्रेस में रात-दिन छपाई का काम चल रहा था । उद्घाटन के कुछ दिन पूर्व तो स्थिति ऐसी हो गयी थी कि मुझे रात को प्रेस में ही रह जाना पड़ता ताकि गैली प्रूफ़, पेज प्रूफ़ और मशीन प्रूफ़ का काम न पिछड़ जाये । समय पर पत्रिका छप गयी । उद्घाटन समारोह सम्पन्न हुआ । अतिथि-अभ्यागत चले गये और अपनी कुर्सी पर बैठा मैं ऊँघ रहा था । तभी एक पैकेट हाथ में लिए फोरमैन ने मुझे जगाया—आप घर जाइये । यह पैकेट···

—कैसा पैकेट ?

—मिठाई का पैकेट है । राजा साहब खुद देना चाहते थे पर आपको सोता देखकर चले गये ।

—मैं सो रहा था ? कितनी देर हुई राजा साहब···

फोरमैन हँसने लगा । हँसकर ही उसने कहा—आपको पता नहीं, पिछले पाँच दिनों से हर रात दस-ग्यारह बजे राजा साहब खुद आकर देख जाते थे सारा कामधाम । हिदायत थी कि आपको काम में डिस्टर्ब नहीं किया जाये ।

1953 में मैंने 'नई धारा' छोड़ दी । फिर दो महीने बेकार रहा । गुज़ारा लिखकर ही करता था । एक दिन शाम को साहित्य सम्मेलन (पटना) गया तो पता चला कि शिवपूजन बाबू को मुँह से खून आ रहा है । वे वहीं एक नौकर के साथ रहते थे । उन्हें अपने घर ले आया (बिहारी लेन, लंगरटोली, पटना) । यह भी पता चला कि बिहार राष्ट्रभाषा परिषद के निदेशक पद का जब से उन्होंने भार सम्हाला, उन्हें वेतन नहीं मिला क्योंकि वे अपने वेतन बिल पर हिन्दी में दस्तख़त करते थे जो बिहार के एकाउण्टेंट जनरल (राँची) के दफ़्तर को मान्य नहीं था । एक्स-रे से पता चला कि शिवपूजन बाबू के दोनों फेफड़ों में कई सूराख बन गये हैं । मधुमेह का प्रकोप ऊपर से । आर्थिक संकट की कल्पना कठिन नहीं । कई प्रकाशकों ने शिवपूजन बाबू की किताबें छाप रखी थीं । साइकिल लेकर चक्कर काटता ।

एक दिन थका-माँदा दो बजे दिन को घर लौटा। साइकिल टिकायी और घर के भीतर दाखिल हुआ तो मेरी पत्नी ने बताया कि राजा साहब आये थे। जाते समय हज़ार रुपये दे गये हैं और···। आँखें नम हो आयीं। उसी दिन दवाएँ ख़रीदनी थीं और रुपयों का इन्तजाम नहीं कर पाया था।

प्रसिद्ध जर्मन कवि, नाटककार और निर्देशक गेटे अपने शिष्यों को त्रासदी और कामदी के संतुलन की बात समझा रहे थे। परिहास में उन्होंने बताया कि त्रासदी के महान नाटककार शेक्सपीयर की मृत्यु एक कामदी थी और महान कामदियों के नाटककार मोलिएर की मृत्यु एक त्रासदी थी। राजा साहब और उनकी कृतियों को देखने पर इस तथ्य की ओर बरबस ध्यान जाता है। बनाव-सिंगार, शोख़ी और चुलबुलापन, चमक-दमक और छेड़ख़ानी उनकी क़लम के हिस्से। उनके अपने हिस्से कठोर संयम-नियम, बेपनाह सादगी और अक्रोध की सतत् साधना।

उनका आम पहनावा था धोती, कुर्ता और गर्दन से लिपटी चादर। कभी टोपी पहनते, कभी नहीं भी पहनते। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, आरा (बिहार) के चेयरमैन की हैसियत से कभी हाकिम-हुक्काम से मिलने जाते तो चूड़ीदार पायजामा, काली शेरवानी और टोपी पहनकर। जब राजा की उपाधि लेने दिल्ली जाना पड़ा (1920) तो सूर्यपुरा में अच्छा-खासा नाटक हो गया। इनका 'वारड्रोब' तैयार करने की जिम्मेवारी छोटे भाई कुमार साहब ने अपने ऊपर ले रखी थी। कपड़े तो सिले-सिलाये थे पर साफे को लेकर राधिकारमण सिंह घण्टों उलझते रहे। बँधा-बँधाया साफा सिर पर रखकर चलना भी बोझ ही बन गया था। कपड़ों के मामले में हमेशा बेपरवाह रहे। गंजी फट गयी है। खुद ही सिलाई करने बैठ गये। छोटे भाई की झिड़की भी मुस्कराकर सुन ली। नयी गंजियाँ आयीं तो पहन भी लिया। धोती फट गयी है, कुर्ता मसक गया है, चादर फट गयी है। कोई बात नहीं। यह देखना उनके निजी खानसामे, आजीवन अनुज कुमार साहब और रानी साहिबा का काम था। लापरवाही के कारण आत्मीयों से मीठी झिड़की सुनकर मुस्करा देना उनका स्वभाव बन गया था।

संस्थाओं, अधिवेशनों आदि में खुलकर भाग लेते थे। अपने ख़र्चे से जाते और कभी-कभी अनुदान भी देते। पर मार्ग-व्यय लेना नहीं भूलते। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद की बैठकों में भाग लेने के लिए मार्ग-व्यय मिलने में देरी होने के कारण टेलीफ़ोन पर तक़ाजे भी करते लेकिन यह रक़म अलग रहती ग़रीब मेधावी छात्रों की सहायता के लिए।

उन्होंने कब किसकी क्या सहायता की इसका लेखा-जोखा उन्हीं के साथ चला गया। बल्कि सच तो यह है कि उनको भी याद नहीं होगा। यह तो उनका स्वभाव था।

कठोर संयम और अनुशासन का यह आलम था कि रेलगाड़ी से यात्रा कर रहे हैं, गाड़ी प्लेटफ़ार्म पर रुकी और उतरकर टहलने लगे। इस तरह टहलने का अपना कोटा पूरा। कभी-कभी तो स्थिति अजीब हो जाती। समय आया और रेलगाड़ी के डिब्बे में ही आसनों का क्रम शुरू हो गया। गाड़ी हिचकोले खाती जा रही है और आसनों का क्रम समाप्त कर वह फ़र्श पर निश्चेष्ट शवासन में पड़े हैं। पत्नी का देहान्त हो गया। शव घर में पड़ा था। सारा परिवार शोकाकुल था। लेकिन प्रतिदिन की तरह उस दिन भी तड़के टहलने निकले। लौटकर आये तभी शवयात्रा आरम्भ हुई।

यह कठोर संयम-नियम और स्वावलम्बन आरा के उस अंग्रेज़ कलक्टर की देन थी जिसने किशोर राधिकारमण प्रसाद सिंह को सूर्यपुरा के प्रासाद से निकालकर अपने बँगले के एक कमरे में रख दिया था। राजा साहब ने यह आभार सादर स्वीकारा भी है।

ऐसे कठोर संयम के व्रती के जीवन में भी ऐसे क्षण आये जब सारा बाँध टूट गया। अपने छोटे भाई (कुमार सर राजीवरंजन प्रसाद सिंह) को प्यार से वह मुन्ना कहते थे। लाखों रुपये खर्च कर भी जब वह अपने प्यारे मुन्ना को नहीं बचा सके तो हफ़्तों बेजार रोते रहे। इतना शरीर कृश हो गया कि लोगों को उनके जीवन पर भी संदेह होने लगा था। यह घाव जीवन-भर हरा ही रहा। जीवन की संध्या में अपने छोटे लड़के उदयराज सिंह को लेकर बाङ्ला फिल्म 'प्रतिश्रुति' देखने गये। उदयराज सिंह को बाङ्ला नहीं आती थी। उन्होंने 'प्रतिश्रुति' का अर्थ पूछा। उत्तर मिला 'अण्डरटेकिंग'। फिर एक मीठी झिड़की कि बाङ्ला सीख क्यों नहीं लेते। फ़िल्म समाप्त होने पर कहने लगे कि पहाड़ी सान्याल मेरी ही भूमिका अदा कर रहे हैं। इशारा छोटे भाई मुन्ना के सम्बन्ध में दिवंगत पिता को दिये गये वचन से था। अक्सर बेबसी से तड़पकर कहते—जब से मुन्ना गये, होली नहीं खेली जाती। जब से महावीर (स्व. महावीर प्रसाद, एडवोकेट जनरल, बिहार और 'नये रिफ़ॉर्मर' के मुख्य पात्र के अभिनेता) गये, थिएटर या सिनेमा नहीं देखा जाता।

जो सादगी कपड़ों में थी, वही सादगी भोजन में। 'राम रहीम' पढ़िये और ऐसे-ऐसे 'डिशों' के नाम मिलेंगे जो आज भी किसी फ़ाइव स्टार होटल में नसीब नहीं—बत्तख का दमपोख्त, बटेर की बिरियानी, तरह-तरह की कलौंजियाँ, कढ़ियाँ और बड़ियाँ, पिस्ते की गिलौरी आदि-आदि। लेकिन स्वतः इन चीज़ों से कभी सम्पर्क नहीं रखा। और तो और रबड़ी, मलाई, मक्खन या घी से भी परहेज़ रहा। गुड़ की डली बड़े प्रेम से खाते और चीनी को सफ़ेद ज़हर कहते। सादा सुपाच्य भोजन करते जिसमें हरी सब्ज़ी की प्रमुखता होती। मांस-मछली को मनुष्य के लिए अखाद्य कहते। ईख की गुल्लियाँ विशेष प्रिय थीं। घर पर जमाया गया गाय

के दूध का दही भी बहुत पसन्द था। पहले सिगार पीने की आदत थी। उनसे तो मुक्त हो गये। पान नहीं छूट सका। जीवन के अन्तिम पचास वर्षों में उनका यही एकमात्र व्यसन था। उन्होंने भोजन में नमक को भी तिलांजलि दे दी थी। गद्दे और पलंग से कोई सरोकार नहीं। तख्त पर पतली-सी क़ालीन और चादर। हाँ, मच्छरदानी ज़रूर रहती। किशोरावस्था से ही उनका स्वास्थ्य ख़राब था फिर भी उन्होंने इतना काम किया और 81 वर्ष की आयु में उनका देहावसान हुआ। इसका राज़ था सादगीभरा जीवन, संयम और अनुशासन।

अध्ययन के समय राजा साहब मूर्तिवत हो जाते। कौन आ रहा है, कौन जा रहा है, सुध नहीं। अन्यथा बालसुलभ चंचलता घेरे रहती। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद की बैठकों में आते तो कुर्सी पर इतमीनान से बैठना मुश्किल हो जाता। कभी काजू चबाते, कभी एक के पास से दूसरे के पास जाते। सुबह टहलने निकलते तो बेधड़क परिचितों और मित्रों के घर चले जाते। उनके घर का दरवाज़ा भी सभी के लिए खुला रहता। याददाश्त इतनी अच्छी कि सैकड़ों अशआर, श्लोक, सूक्तियाँ, मुहावरे और गीत कंठाग्र थे। एक बार जिससे मिल चुके उसे फिर भूले नहीं। किसी की कविता किसी कवि सम्मेलन में अच्छी लगी तो कंठाग्र हो गयी।

राजा साहब ने सामाजिक एवं मानवीय मूल्यों के मुक़ाबले पेश कर हमेशा सामाजिक मूल्यों की धज्जियाँ बिखेरी हैं। यही दृष्टिकोण उनकी जीवन-शैली का भी था। 'टूटा तारा' के समर्पण में उन्होंने अंग्रेज़ी के कवि ग्रे की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की हैं :

> ऐसे भी फूल हैं जिनकी मुस्कान किसी ने नहीं देखी।
> उनकी सुरभि रेगिस्तानी हवा में बिखर गई।

ये सिर्फ़ उदाहरण की पंक्तियाँ नहीं हैं। उनकी आस्था की सूचक भी हैं। उनकी सहृदयता, सहायता और प्रोत्साहन से कितने लोग उपकृत हुए गिनाना असम्भव है। जिन्हें 'वन्य कुसुम' कहकर उन्होंने 'टूटा तारा' में याद किया है उनमें से दर्जनों आज सिरमौर बने हैं। बाक़ियों का हिसाब उनके साथ ही गया।

उनकी लेखन-शैली तो निराली थी ही, बातचीत का ढंग भी अनूठा ही था। अपने ख़ास नौकर पर भी हुक्म चलाने के बदले कहते—'का हो गुप्ता, मालिश ना होई ?' नाश्ते का वक़्त हो, मालिश का वक़्त हो, कोई बात नहीं। कोई मिलने आया है तो ज़रूर मिलेंगे और इतमीनान से बातें होंगी। पहली मुलाक़ात में लगता कि राजा साहब की वाक्य-रचना, शब्द-चयन, विराम और बल—सभी कुछ कृत्रिम हैं। लेकिन पल-भर में यह भ्रम दूर हो जाता। मुसीबतों में मुब्तिला, बुझी-से-बुझी तबीयत लेकर लोग राजा साहब के पास जाते और हल्के-फुल्के होकर मुस्कराते हुए लौटते।

बातचीत में सीधी दो-टूक कहना, बिना किसी राग-द्वेष के, तटस्थता के

साथ, उनकी विशेषता थी। शायद यही कारण रहा हो कि उन्होंने अक्रोध पर ऐसा अंकुश लगा रखा था जीवन-भर। 'नई धारा' के स्मृति विशेषांक से दो दिलचस्प उदाहरण इस तथ्य को अच्छी तरह उजागर कर देंगे :

सन् 1934 की बात है। उसी साल 15 जनवरी को बिहार में प्रलयंकर भूकम्प हुआ और सारा मुंगेर नगर उसकी चपेट में पड़कर विध्वंस हो गया…।

बिहार के भूकम्प-पीड़ित क्षेत्रों की दुर्दशा स्वयं अपनी आँखों से देखने… महात्मा गाँधी बिहार पधारे थे और पटने में ब्रजकिशोर पथ पर अवस्थित पीली कोठी में उनका शिविर था।

गाँधी जी इस प्रांत में, हरिजनों की सेवा में संलग्न हरिजन कार्यकर्त्ताओं से मिलकर कुछ बातें करना और मार्ग-दर्शन देना चाहते थे।

× × ×

राधिकारमण सिंह की ही अध्यक्षता में बैठक हुई।…इसी क्रम में राजा साहब ने गाँधी जी से विनम्रतापूर्वक पूछ लिया—महात्मा जी, यह बात हम लोगों की समझ में नहीं आ रही है कि एक ओर तो हम लोग विद्यार्थियों को सरकारी विद्यालयों से, उन्हें गुलामखाना समझकर, असहयोग करने का आह्वान करते हैं, मगर दूसरी ओर हरिजन विद्यार्थियों को उन्हीं गुलामखानों में भर्ती होने के लिए मात्र प्रोत्साहित ही नहीं करते, बल्कि भर्ती करा देने के बाद उनके पढ़ने-लिखने की सारी व्यवस्था भी कर देते है। क्यों नहीं हम लोग उन्हें औद्योगिक शिक्षा की ओर उन्मुख होने के लिए प्रोत्साहन दें।

गाँधी जी ने उत्तर दिया—राजा साहब, आपका कहना ठीक है किन्तु यदि हम हरिजनों के बच्चों को सरकारी स्कूल-कॉलेजों में भर्ती नहीं करायेंगे तो हरिजनों का विश्वास हम लोगों पर से उठ जायेगा। उन्हें तो स्वभावतः यह आशंका होगी कि जिस राह पर चलकर बड़े लोग आगे बढ़े हैं, उसे छोड़कर दूसरे मार्ग का अवलम्बन करने का उपदेश वे लोग क्यों दे रहे हैं ? हरिजन चैतन्य तो है नहीं जो हमारी-आपकी इस सूक्ष्म बात को समझ सकें। वे यही समझ बैठेंगे कि हम लोग उन्हें पढ़ाना नहीं चाहते, केवल हरिजन सेवा का ढोंग फैला रहे हैं। और यदि हरिजन हमारे प्रति उतना विश्वास खो देंगे तो उन्हें सुधारने में हमें सफलता नहीं मिलेगी।[1]

दूसरा उदाहरण भी मजेदार है :

"बात 1959 की है।

भई, कल की एक मजेदार बात सुनाता हूँ। पटना में मैं कल श्री बाबू (तत्कालीन मुख्यमंत्री डॉ. श्रीकृष्ण सिंह) के यहाँ गया था। बातों-बातों में

1. 'राजा साहब' और 'गाँधी जी'—लेखक सुरेश्वर पाठक

ज़मींदारों की मौजूदा हालत और उन्हें मिलनेवाले मुआवज़ा और ज़मींदारी बौंडों पर बात छिड़ गयी। मैंने कहा—श्री बाबू, आप लोगों ने तो पल-भर में राजा को रंक बना दिया पर कुछ उनकी सुध भी तो ली होती। आपने कहा कि हम ज़मींदारों को मुआवज़ा देंगे पर यह मुआवज़ा तो मानो स्वाति की बूँद जैसा दुर्लभ बन गया है। श्री बाबू ने उत्तर दिया—राजा साहब, यह किसी व्यक्ति विशेष का आश्वासन तो नहीं कि आप घबरा रहे हैं। यह तो राज्य सरकार के द्वारा दिया गया आश्वासन है और हम इसे कार्यान्वित भी करेंगे। कम-से-कम इस बात पर तो भरोसा कीजिए कि यह सरकार का मामला है।

मैंने कहा—इजाज़त हो तो इस बात पर एक शेर अर्ज करूँ ?

श्री बाबू ने कहा—हाँ, हाँ, कहिए।

मैंने कहा—

> जिसकी बेवफ़ाई पर हज़ारों जान देते हैं
> ख़ुदाया वह सितमगर बावफ़ा होता तो क्या होता।

श्री बाबू ने कहा—ख़ूब कही। मगर यह तो सोचिए राजा साहब कि क्या छः महीने का खाना कोई एक दिन में खा सकता है ? मुआवज़ा के लिए हमारी इतनी बड़ी मशीनरी है, इतने लोग हैं, लाखों-करोड़ों का हिसाब है, वक़्त तो लगेगा ही। आपको थोड़ा सब्र से भी काम लेना चाहिए।

मैंने कहा—इजाजत हो तो एक और शेर अर्ज करूँ ?

श्री बाबू बोले—ज़रूर कहिए।

मैंने कहा—

> तेरे वादे पे सितमगर अभी और सब्र करते
> अगर अपनी ज़िन्दगी का हमें एतबार होता।

श्री बाबू ने कहा—अब आपसे कौन बहस कर सकता है ? मैं तो बस इतना ही पूछूँगा कि अगर कोई दूसरा ज़मींदार मुझसे कहता तो मैं मान भी लेता पर आपको क्या कमी है ? प्रेस खोल रखा है, 'नई धारा' निकलती है, बोरिंग रोड में मकान है, घर पर महल है, सैकड़ों बीघे की काश्त है, फिर आप क्यों बेताब हो रहे हैं ?

मैंने कहा—अब इजाज़त हो तो एक और शेर अर्ज़ करूँ ?

श्री बाबू ने कहा—सुनाइये, सुनाइये। आप न कहियेगा तो कौन कहेगा ?

मैंने कहा—

> मेरी ख़ाक भी न रही लहद में मीर बाक़ी
> उन्हें मरने ही का नहीं एतबार होता।

श्री बाबू ने कहा—आपने मुझे लाजवाब कर दिया राजा साहब। इसीलिए साहित्यिक से जूझना खतरनाक होता है। मैं हार गया।

मैंने कहा—तो इजाज़त दीजिये कि आखिरी शेर अर्ज करूँ। और बिना उनकी इजाज़त की प्रतीक्षा करते हुए कहा—यह जान लीजियेगा कि—

हमीं जब न होंगे तो क्या रंगे महफ़िल
किसे देखकर आप शरमाइयेगा।"[1]

राजनीति के खिलाड़ियों के लिए ऐसे व्यक्तित्व की कल्पना सचमुच कठिन थी। हालाँकि राजा साहब ने कई लोगों से बातचीत के दौरान यह स्पष्ट कर दिया था कि रियासत का एक भी पैसा वह अपने ऊपर खर्च नहीं करते थे। किताबों की रायल्टी पर ही उनका व्यक्तिगत खर्च चलता था। बातचीत में वह अक्सर कहते—'अंग्रेज गये, राजा गया। अब तो लेखक राधिकारमण प्रसाद सिंह बचा है।' साहित्य के प्रति समर्पित व्यक्तित्व की सशक्त अभिव्यक्ति उनके इस कथन से मिलती है :

"सिद्धेश्वर नाथ, हमसे बड़ा भाग्यवान कौन है? मुन्ना (छोटे भाई) भी चले गये (1948) और जमींदारी भी जा रही है। भगवान ने मेरे जीवन के दोनों बन्धनों को ज़रा आते ही काटकर फेंक दिया। अब तो साहित्य ही मेरा एकमात्र साथी है और बन्दानवाज़ी भी।"

मृत्यु के दो-चार दिन पहले उनके 'मेल नर्स' ने उनके छोटे लड़के उदयराज सिंह को बताया—"बाबा अक्सर मुझसे 'राम-रहीम' पढ़वाकर सुना करते हैं। मुझे तो पंक्तियाँ समझ में नहीं आतीं, मगर वे आनन्दविभोर हो जाते हैं। कुछ क्षणों के लिए अपनी व्यथा भूल जाते हैं।" रामायण और गीता का जब कभी भी पाठ बैठाया गया तो उन्होंने मुस्कराकर उसे बन्द करा दिया।

उनके साहित्यानुराग पर भाषा का कोई बन्धन नहीं था। हिन्दी, बाङ्ला, संस्कृत, उर्दू, फ़ारसी और अंग्रेज़ी पर तो असाधारण अधिकार था ही। अन्य भाषाओं के प्रति भी अनुराग कम नहीं था। सिर्फ एक संस्थान, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद की सामान्य समिति के सदस्य की हैसियत से उन्होंने जिन कार्यों का सूत्र-पात कराया उनकी गिनती ही यह तथ्य रेखांकित कर देगी :

(1) अहिन्दी-भाषा-भाषी लेखक हिन्दी ग्रन्थ पुरस्कार योजना
(2) तमिल के कम्बरामायण का हिन्दी अनुवाद
(3) तेलुगु के रंगनाथ रामायण का हिन्दी अनुवाद

1. 'राजा साहब—जिन्होंने अपनी ज़िन्दादिली से लोगों के दिलों पर राज़ किया'—लेखक दुर्गाप्रसाद।

(4) अनुसंधान योजना

(5) अनुवाद योजना आदि।

यह उनका साहित्यानुराग ही था जिसने राजनीति के दलदल से उन्हें बचाया। बहुजन हिताय कई सार्वजनिक कामों से जुड़े और राजनीति से दूर रहे। कवि-सम्मेलनों, साहित्य सम्मेलन के अधिवेशनों, स्कूलों, कॉलेजों और पुस्तकालयों के विशेष आयोजनों में खुलकर भाग लेते। भाषण की शैली लेखन की ही तरह निराली होती। जो सुनता, मुग्ध हो जाता। उनके विचार, वाक्य-विन्यास, मुहावरों, अशआरों और श्लोकों आदि के उद्धरण सटीक होते और बेबाक भी। एक बार सरकारी जलसे में खादी धारी सत्ताधारियों के बीच निर्भीक रूप से उन्होंने कहा—खादी के कुर्ते में भी जेब होती है। उन्होंने कहानी, उपन्यास, संस्मरण, रेखा-चित्र—बहुत कुछ लिखा। जीवनी नहीं लिखी। आत्म-संस्मरण सुनाने में भी कतराते थे। एक बार दिनकर जी ने अनुरोध किया कि वह आत्म-कथा लिख दें तो इसी बहाने हिन्दी को हजार-पाँच सौ पेज का अच्छा गद्य मिल जाये। राजा साहब ने इसलिए इनकार कर दिया कि आत्मकथा लिखने में आत्म-प्रशंसा से बचना मुश्किल होता है। वह जिन संस्थानों से जुड़े रहे उनका विवरण उनके जीवन-वृत्त के साथ परिशिष्ट 'क' में है। भाषणों के नमूने भी आगे दिये गये हैं।

जीवन की सन्ध्या में मिलने-जुलनेवालों से अक्सर कहते—चिराग़े सहर हूँ, बुझा चाहता हूँ। कोई चिराग़े शाम जला ले। लेकिन उस शैली और रवानी को लेकर कोई 'चिराग़े शाम' नहीं जला, जल भी नहीं सकता था।

22 जनवरी, 1971 को पटना स्थित अपने मकान के पास ही अचानक गिर जाने से उनकी दाहिनी जाँघ की हड्डी टूट गयी। डाक्टरों की सलाह पर प्लास्टर कर दिया गया। फिर उठ नहीं सके। 24 मार्च को, दिन के डेढ़ बजे उन्होंने अपना पार्थिव शरीर छोड़ दिया। रह गयीं उनकी तीसेक कृतियाँ, हज़ारों लोगों के मन पर उनकी सीधी और अमिट छाप, लाखों पाठकों के हृदय में उनकी चुटीली शैली और मार्मिकता, जो एक साथ गुदगुदाती और चाबुक लगाती, और उनके जीवंत पात्र जो अभी भी अपनी सार्थक अनुभूति का बोध कराते हैं और जाने-अनजाने हमें आईना देखने पर मजबूर करते हैं।

उपन्यास-लेखन

जीवनी को छोड़कर गद्य की ऐसी कोई विधा नहीं जो राधिकारमण प्रसाद सिंह की क़लम से बची हो। और जानी-सुनी-देखी माला में जो संस्मरण उन्होंने लिखे हैं उन्हें मिलाकर देखें तो जीवनी का एक अनोखा ही स्वरूप मिलेगा। हाँ, आत्म-प्रशंसा से सदा बचते रहे और संस्मरणों में भी अपनी उस टेक को खूब निभाया।

साहित्य से परिचय तो हुआ कविता के माध्यम से। साहित्य जगत में प्रवेश भी किया कविता के ही माध्यम से। लेकिन आरंभिक कविताएँ जो ब्रजभाषा और बाङ्ला में लिखी गयी थीं, खो गयीं। फिर जुड़े कहानी और उपन्यास से। कलकत्ता प्रवास के दिनों में नाटक का जो स्वाद मिला था उसे भुला न सके। इसलिए नाटक भी सामने आये कभी-कभी। बल्कि प्रारंभिक क्रम तो था—कविता-कहानी-प्रहसन-उपन्यास। लेकिन कालक्रम से कहानी और उपन्यास की विधा हावी हो गयी। कविता छूट ही गयी। लेकिन काव्य-शिल्प की बारीकियाँ अन्तर में गहरी उतरती चली गयीं। भाषाओं का विलक्षण वितान था ही—हिन्दी, संस्कृत, उर्दू, फ़ारसी, बाङ्ला और अंग्रेजी। रियासत का भार सम्हालते हुए जन-सामान्य के जीवन से ऐसे घुले-मिले कि देशज शब्दों और गीतों का भंडार सहज ही मिल गया। राज-घराने में जन्म लेने के कारण संगीतात्मकता का बोध सहज ही हो गया था। नाटकों के प्रदर्शन से जुड़ने के कारण यह भी पता चला कि उच्चरित रूप में शब्दों और वाक्यों को एक नया आयाम मिल जाता है। इन्हीं तत्त्वों से राधिकारमण प्रसाद सिंह की शैली का निर्माण हुआ। सारा हिन्दी जगत लेखक की शैली से चकित-विस्मित-विमुग्ध रह गया। कभी मंत्रों जैसी गरिमा, कभी उर्दू का चुलबुलापन, कभी ठेठ देहाती (देशज) शब्दों का खुरदरापन—कभी खिलखिलाती निर्झरिणी तो कभी शांत सौम्य तालाब, कभी झंझावात तो कभी मलय-समीर। लेखक की कृतियों का यह एक पहलू है जिसका सबसे अधिक आनन्द उन्होंने उठाया है जिन्होंने उनके भाषण सुने हैं।

मुझे जिस पहलू ने शैली की ही तरह चमत्कृत किया है वह है लेखक की असीम करुणा। पूरे साहित्य में मुझे एक भी ऐसा स्थल नहीं मिला जहाँ किसी पात्र, व्यक्ति या वर्ग को सूली पर चढ़ाया गया हो। खलनायक का सहज नुस्खा

लेखक ने कभी नहीं अपनाया। मान्यताओं से घिरा व्यक्ति कठघरे में आता है। दोषारोपण भी होता है। उससे बचा नहीं जा सकता। तभी लेखक सामने आ जाता है और पेश करता है अपना विश्लेषण। व्यक्ति पर दया आती है। उससे घृणा करना असंभव हो जाता है।

इस पहलू को उनके उपन्यासों में देखा जा सकता है।

उनकी उपन्यास-कला पर एक विहंगम दृष्टि दें तो उनके आरम्भिक उपन्यास **'राम-रहीम'** को लेखक का प्रतिनिधि उपन्यास कहा जा सकता है। इसलिए इसके विवेचन में लेखक की उपन्यास-कला का अच्छा बोध हो जाता है।

'राम-रहीम' ऐसा नाम है जिससे, पहली नजर में, एक प्रकार का भ्रम होता है। लगता है कि हिन्दू-मुस्लिम एकता पर लिखा गया उपन्यास है। लेकिन बात दूसरी है। लेखक की यह विशिष्ट शैली है कि वह दो शब्दोंवाला नामकरण करते हैं—राम-रहीम, पुरुष और नारी, पूरब और पश्चिम, हवेली और झोंपड़ी, देव और दानव, चुम्बन और चाँटा आदि। दरअसल इस बहाने वह यह तथ्य उजागर करना चाहते हैं कि विरोधात्मक अर्थ के बावजूद तत्त्वतः दोनों एक ही हैं। पहले तो वह आवरण गढ़ते हैं। कभी दो-चार सपाट या आड़ी-तिरछी रेखाओं से खाका तैयार किया जाता है। फिर उसे रंगों से सजाया जाता है, नक्काशी की जाती है। और अंततः आवरण के पर्दों को हटा कर दिखाया जाता है कि इनके भीतर जो है वह एक ही है—मानव हृदय, शक्ति सामर्थ्य के साथ कमजोरियों का अद्भुत मिश्रण जो कभी तो कड़ी-पे-कड़ी चोट पर भी आँखें नहीं झपकता और कभी एक बात पर मिट जाता है।

इसकी भूमिका में ही लेखक ने जिन दो लक्ष्यों की चर्चा की है, उसकी पृष्ठ-भूमि में ही विवेचन तर्कसंगत लगता है। अपना विषय, अपना दृष्टिकोण चुनने के लिए तो लेखक स्वतंत्र होता ही है। उसका निर्वाह कितना सक्षम हुआ है यह पाठक परखता है।

बेला और बिजली—दो भारतीय नारियों को आधार बनाकर पूरे उपन्यास की काया गढ़ी गयी है। अगर उपन्यास को एक राग मान लें तो यह कहना पड़ेगा कि इस राग का वादी स्वर बेला है। संवादी स्वर के रूप में बिजली आती है: पहले तो दोनों के जीवन खंड एक के बाद एक आते हैं। फिर दोनों मिल जाती हैं और अंततः अपनी-अपनी नियति के अनुकूल अपना अलग रास्ता चुन लेती हैं।

सिर्फ़ दो पृष्ठों में बेला के प्रारंभिक जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंश समाप्त हो जाता है। दसवें साल उसने भाँवरें डाली थीं और पूर्ण युवती होने के पहले ही अचानक पुत्र वियोग और वैधव्य की भीषण यंत्रणा से प्रातःकाल की शेफालिका की तरह चू पड़ी। लेखक ने इन दो पृष्ठों में वह पृष्ठभूमि तैयार की है जिस पर

बेला के मन का ताना-बाना बुना जाता है। उसका पुत्र-शोक और वैधव्य धर्मान्धता की ही देन है इसे याद कराने से लेखक नहीं चूकता।

बेला के चरित्र का विकास पहले तो उस धरातल पर होता है जहाँ अपना वैधव्य स्वीकार कर परिवार की सेवा में वह डूब जाना चाहती है। अपनी जवानी के आलम मे वह गाफ़िल रहती है। अपने देवर के सौहार्द में उसे कोई खोट नहीं दिखायी पड़ती। लेकिन वह दिन दूर नहीं जब देवर की ज़ोर-जबरदस्ती से बेला दलदल में फँसती है। उसके पैर भारी हो जाते है। गर्भ में पल रहे एक निर्दोष की जान जायेगी, इसलिए आत्महत्या से खिचकर घर से लापता हो जाती है।

पहले अंश में रेखाओं का जो क्रम शुरू हुआ था उसमें उनकी संख्या कम थी पर वे बड़ी सशक्त थीं। धीरे-धीरे विभिन्न प्रकार की रेखाओं ने रेखा-चित्र पूरा कर दिया। व्यक्तित्व और चरित्र के हर आयाम की नींव अच्छी तरह जमा दी गयी। धर्मान्धता, समाज की रूढ़िवादिता और अत्याचार ने उसे पीसा ज़रूर पर किसी अर्थ में धर्म के प्रति उसकी आस्था और दृढ़ हो गयी क्योंकि उसके पास जीने के लिए और कोई संबल नहीं रह गया था। बेला के मन को समझने-परखने के लिए लेखक ने ये दो सूत्र पाठकों के सामने जमा दिए।

राग का वादी स्वर अच्छी तरह जम चुका। अब हम संवादी स्वर यानी बिजली तक पहुँचते हैं। शहर के नामी-गिरामी रईस की चहेती बेटी पाश्चात्य सभ्यता के चकाचौंध में अपने को बह जाने देती है। उसने भी अपनी जीवन शैली का चुनाव खुद नहीं किया। बाप ने ही ग्रैजुएट बेटी की लालसा में उसे इस रास्ते चढ़ाया। खुद आबनूस का कुन्दा थे। देखभाल कर बिरादरी की एक विलायती रंगवाली लड़की मोल ले आये थे ताकि ख़ानदान का रंग तबदील हो, उनके बच्चे नर्सों की गोद में अंग्रेजों के बच्चे नजर आयें।

स्वभाव से ही चंचल और शोख़ बिजली इस पाश्चात्य वातावरण में मद और विलासिता की साकार प्रतिमा बन गयी। जहाँ राय साहब 'श्याम और कुल' दोनों को निबाह कर चलते थे वहीं बिजली दोनों मे लापरवाह बन गयी। फिर विलासिता और उच्छृंखलता का जो ताना-बाना शुरू हुआ वह उसे कहाँ पहुँचा देता, राम जाने। मातृत्व ने उसे विवाहसूत्र में बाँध दिया। उधर हर तरफ़ से सतायी गयी बेला भगवान के चरणों में अपनी शांति ढूँढ़ने लगी।

दोनों नारियों के जीवन के माध्यम से तत्कालीन समाज के सभी तबकों का सांगोपांग चित्रण मिलता है—पहनावा-ओढ़ावा, खाना-पीना, आचार-व्यवहार, मान्यताएँ और आस्थाएँ, कमज़ोरियाँ और मजबूरियाँ। लेखक ने कहीं तो दो-चार पंक्तियों में ही चित्र पूरा कर दिया है और कहीं कई पृष्ठ लग गये हैं। दोनों ही प्रकार लेखक की सृजनात्मक शैली के अविच्छिन्न अंग हैं। उपन्यास की प्रारंभिक पंक्तियों में बेला का चित्रण जानबूझ कर छोटा रखा गया है। क्योंकि

उसकी लालसाओं कामनाओं-आकांक्षाओं का आकाश खुला नहीं था। विस्तार की जरूरत नहीं थी। इसके विपरीत बिजली के प्रारंभिक जीवन के चित्रण में उसके माता-पिता तथा अन्य लोगों का विशद वर्णन है। क्योंकि इन्हीं लोगों के बीच बिजली निखरती है और जिन घात-प्रतिघातों ने जिन निहित और आरोपित मान्यताओं ने बिजली के व्यक्तित्व और चरित्र को गढ़ा, उन्हें विस्तार से उजागर करना आवश्यक था।

बेला जब अस्पताल मे भागकर गुरू के घर आ जाती है और देखती है श्रीधर को जो चन्दमौलि की चरण-चौकी के सामने खड़ा होकर हाथों में पुष्पांजलि लिए उच्च कंठ से स्तुति कर रहा है तो श्रीधर की आँखों में एक दिव्य ज्योति दिखायी पड़ती है और दिखायी पड़ता है—इकहरा बदन, भीगती हुई मसें, चौड़ा सीना, ऊँची उठान, प्रशस्त ललाट—पुरुष का ऐसा रूप जिसे अब तक उसने जाना-पहचाना तो क्या, देखा भी नहीं था—सौम्य मुख पर एकांत निष्ठा की छटा।

इस मोड़ के बाद लेखक ने विशद वर्णन, व्याख्या और टिप्पणी का प्रयोग बेला और बिजली दोनों के जीवन-क्रम के विस्तार में एक जैसा ही किया है। इस तरह तत्कालीन शहरी और ग्रामीण जीवन मे उल्लेखनीय सभी सामाजिक स्तरों का चित्र अच्छी तरह उभर कर सामने आता है। बेला और बिजली, इन दो मुख्य पात्रों के इर्द-गिर्द दर्जनों पात्र दिखायी पड़ते हैं, हर एक अपनी विशिष्टता के साथ जीवन्त और प्राणवान।

लेखक की शैली की यह विशेपता रही है कि वह व्यक्तित्व और चरित्र, दोनों को तह-ब-तह खोलकर सामने रखता है, झटके के साथ एक बार ही नहीं। बेला को ही देखें। बचपन की नादानियाँ छूटी नहीं और दुल्हन बन गयी। किशोरी युवती होने के पहले जननी हो गयी और फिर कुछ ही दिनों में विधवा भी। यह एक परत है, किसी अर्थ में सतही क्योंकि अभी तो व्यक्तित्व का साँचा ढला ही नहीं था। फिर उसके अंग-प्रत्यंग से फूट पड़नेवाले यौवन की ओर उसके देवर ने आँख उठानी शुरू की। देवर-भौजाई के रिश्ते की आड़ में, होली और गंगा-नहान के समय जब वह उसे घूरने लगा तो उसे पुरुष की वासना की पहली गंध मिली। इसे भ्रम समझकर उसने पूजा-पाठ में और अधिक मन लगाया।

अभी तक सांसारिक प्रपंचों से अपने को बचाने के उपाय स्वरूप ही पूजा-पाठ उसने स्वीकारा था। और जब देवर दिनेश ने बलात्कार किया और अंततः उसे गर्भवती बना दिया तो पुरुषों के प्रति घृणा, अविश्वास और आक्रोश से वह भर उठी। यह हुई दूसरी परत। बेला ऐसे मोड़ पर पहुँच गयी जहाँ स्त्री पुरुष के सहज आकर्षण की कल्पना भी किसी विधवा के लिए अक्षम्य अपराध थी।

गुरू के घर आकर बेला कुछ आश्वस्त हुई। युवक श्रीधर के प्रति आकर्षित जरूर हुई लेकिन इसमे वासना की गंध नहीं थी। गुरू के प्रति तो वह समर्पित ही

हो गयी। लेकिन वहाँ भी उसे शांति नहीं मिली। पहले तो गुरू अपने से जूझते रहे। फिर अंग-स्पर्श की याचना कर ही दी। बेला जैसी लड़की गुरू को इसीलिए फटकार सकी कि उन्हीं की देखरेख में उसने धर्मग्रन्थों का पारायण शुरू किया था और उन्हें देवतुल्य मान लिया था। श्रीधर और बेला के परस्पर आकर्षण का क्या अंत होता, कहा नहीं जा सकता। एक प्रतिष्ठित पंडित और झीलवाले मठ के महंत के उत्तराधिकारी का एक विधवा से बढ़ता सम्बन्ध परिवारवालों, विशेष कर महंतजी को स्वयं खटकने लगा। शायद श्रीधर की शादी कर वह एक ही तीर से दो शिकार करना चाहते थे। गुरू के आगे तो बेला न झुकी और श्रीधर के विवाह की घोषणा ने उधर का दरवाज़ा बन्द कर दिया।

श्रीधर और बेला के प्रसंग को पढ़कर शरत बाबू की सहसा याद आ जाती है। ऐसा नहीं लगता कि इस प्रसंग के विस्तार या निर्वाह में किसी की छाया पड़ रही है। बल्कि यह विश्वास जगता है कि एक ही सामाजिक मूल्यों की मान्यता वाले लोगों का चित्रण है। एक बार परिवार-समाज के सभी मूल्यों की अवहेलना करती हुई पार्वती देवदास के पास चरणों में स्थान पाने के लिए गयी। देवदास के पाँव उखड़ गये। फिर ऐसा भी मोड़ आया, जब देवदास विवाहिता पार्वती के सामने याचक बनकर आया। पार्वती मुकर गयी। विवाह से पहले श्रीधर ने समस्त मनप्राण से बेला के प्रति अपना समर्पण प्रस्तुत किया। वैधव्य की विभीषिका और एक कुलीन ब्राह्मण युवक के भविष्य को कलंकित करने के अपराध-बोध ने बेला को जड़ बना दिया। उपन्यास के अंत से पहले बेला श्रीधर के पास गयी। लेकिन तब कलंकिनी वेश्या को अपनाना श्रीधर के लिए संभव नहीं हो सका।

बेला तत्कालीन समाज की बाल-विधवा की जीवन्त प्रतिमा है जिसे हर मोड़ पर उसके शरीर के ग्राहक मिलते हैं जो उसे रखैल बनाकर रखने के लिए तैयार हैं लेकिन धर्मपत्नी की गरिमा से मंडित होना हिन्दू समाज में अकल्पनीय है। बेला अंततः वेश्यावृत्ति का रास्ता अपनाती है। शरीर तो कलंकित और कलुषित हो ही गया। उसका व्यापार होता है तो हो। मन तो बचा रहे। रामभजन में ही उसे जीवन का आधार-स्रोत मिलता है।

इस तरह अपने सामाजिक मूल्यों से बँधी बेला पुरुष की वासना का खिलौना बनने पर मजबूर तो होती है लेकिन यह शरीर के स्तर तक ही सीमित रहता है। उसका अन्तर धर्मप्राण ही बना रहता है।

इसके विपरीत है बिजली जो पाश्चात्य सभ्यता की छूट और चमक-दमक से अभिभूत होकर अपने को उद्दाम लालसाओं की आँधी में निरंकुश छोड़ देती है। बाप की साध थी कि बेटी ग्रैजुएट बने, सभा-सोसाइटी में माडर्न कहलाये, जाति के ही किसी सुयोग्य लड़के को विलायत भेजकर पढ़ाया-लिखाया जाये और उसकी शादी की जाये। लेकिन एक बार जब बिजली को छूट मिली तो वह नहीं रुकी।

रुपये-पैसे और ज़ेवरात के साथ वह युवक सलीम के साथ घर से भाग निकली। उसने इस बात की ओर ध्यान ही नहीं दिया कि सलीम के पास आमदनी का कोई ज़रिया नहीं और भविष्य कैसे कटेगा। उसने तो सिनेमा के पर्दे पर देखा था एक प्रेमी-प्रेमिका का उन्मुक्त मिलन। उस मिलन की कामना ने बाक़ी सब कुछ धो-पोंछकर साफ़ कर दिया था। एक परत खुली।

दोनों ने एक शानदार होटल में कुछ दिन शान से गुज़ारे। लेकिन सलीम की बेरोज़गारी, नवाब साहब की ऐय्याश नज़र और शाहखर्ची ने बेला को मजबूर कर दिया। उसकी तबियत ऐसी बन गयी थी कि भविष्य के बारे में दूर तक सोचना उसकी कल्पना में भी नहीं समाता। कुछ दिन तो वह नवाब की रखैल बनी होटल में टिकी रही। फिर वहाँ से भी भाग निकली। अंततः बनारस में एक महँगी वेश्या के रूप में एक जौहरी अमीन की रखैल बन गयी।

बिजली की ज़िन्दगी ने जो करवटें लीं उनमें फ़ैसले की ज़िम्मेदारी बिजली की ही थी। यह ठीक है कि बिजली के व्यक्तित्व के निर्माण में भी तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों का हाथ था। पर वह बेला की तरह निस्सहाय नहीं थी, पढ़ी-लिखी और चुस्त-चालक थी। ऐसा लगता है कि तत्कालीन संभ्रांत हिन्दू परिवार में भी स्त्रियों की स्थिति (उदाहरण के लिए, उसकी माँ जो, उसके घर में ही मौजूद था) ने ही उसे विद्रोहिणी बनाया जिसका यह स्वरूप निखरकर सामने आया।

बेला और बिजली जब वारांगनाएँ बनी तो दोनों के चाहनेवालों का भी मेला लगा। बिजली खुलकर खेलती रही। बेला ने गायन तक ही अपने को सीमित रखा। बिजली ने लाख कोशिश की कि बेला भी उसका ही रास्ता अपना ले। पर बेला न हिली। जब बिजली गर्भवती हो गयी तो उसने अमीन से शादी कर ली और बेला को जब श्रीधर ने तिरस्कृत किया तो वह राम के चरणों में समर्पित हो गयी।

उपन्यास का अन्तिम अंश बहुत ही मार्मिक है। एक ओर है बिजली, जो अपने छोटे लड़के और उसकी आया के साथ गंगा की सैर करने आती है। दूसरी ओर है बेला, जो रामभजन में खो गयी है। बिजली के बच्चे को देखकर उसे अपने अवैध नवजात शिशु की याद आती है। बिजली की दी गयी रक़म भिखमंगों को लुटाकर वह रामभजन में खो जाती है। बिजली की उच्छृंखलता को अंततः दिशा मिलती है मातृत्व से। बेला के नारकीय जीवन का अन्तिम सहारा बनता है रामभजन।

इन दो स्त्रियों के माध्यम से दो प्रकार के मूल्यों और दो तरह की चेतनाओं का चित्रण तो हुआ ही है। गौण पात्रों के चित्रण ने पृष्ठभूमि को विलक्षण गहराई से अलंकृत कर दिया है। बेला के प्रारंभिक जीवन में उसके माता-पिता हैं जिन्होंने

रजस्वला होने के पूर्व ही कन्यादान का पुण्य प्राप्त कर लिया चाहे जामाता रोगी और अधेड़ क्यों न हो ! बेला के ससुर पूजा-पाठ द्वारा सभी कुछ सँवार लेने अथवा भुला देने के प्रयास में उलझे हुए। बेला की ननद—ऊपर-ऊपर तो घुली-मिली पर बेला के सौन्दर्य और यौवन से जली-भुनी। और उसका देवर जो अपने को विधवा भाभी के यौवन के उपभोग का अधिकारी मानता है क्योंकि वह सजीला जवान है और उसके पास अन्न और रुपये-पैसे का अभाव नहीं। बेला जब महंत के घर आती है तो दूसरी तरह के चित्र उभरते हैं। महंत की शादी तब हुई जब वह किशोरावस्था में ही क़दम रख रहे थे। पत्नी तरुणी थी। जब महंत विद्याध्ययन के बाद घर लौटे तो पत्नी की जवानी उतार पर थी। मिश्र जी (महंथ जी) जब घर लौटे, "जब मन के कोने-कोने में अरमानों की उमड़ी हुई उर्मियों से उन्मुख विलास-कुंज की तलाश में अपने निर्दिष्ट चमन में पैर रखा तब वहाँ खिजाँ झाड़ू फेर चुकी थी। फूल पर न बसंत का कुलेल था, न यौवन का परिमल, न रंग, न गंध, वरंच क्यारियों में अपार कँटीली झाड़ की भरमार। मिश्रानी नये-नये गहनों से लदती और गाँव भर के शूतों के डर से मूँगा सोनार और नेता कहार के बताये रास्ते पर चलती। मिश्र जी ने उसके यौवन के बुझते दीपक को स्नेह देकर ताज़ा करना चाहा लेकिन वहाँ तो टेम ही जल चुका था, तेल देकर प्रकाश क्या ख़ाक होता।" मिश्र जी कामनाओं के ज्वार से सदा बचते रहे। बेला को पाकर डगमगाये पर फिर घरबार त्याग कर संन्यास ले लिया। इसी तरह गाँव के अन्य गौण पात्र हैं जो कभी दो-चार पृष्ठों से आगे नहीं बढ़ते पर हैं बड़े ही सशक्त और जीवन्त जैसे दुबला-पतला और कमज़ोर गनेश तथा लम्बी, मोटी, चौड़ी और कलूटी उसकी स्त्री—जो मर्दों से भी पंजा लड़ाती और अनाज से भरा हुआ बोरा पीठ पर लाद कर ले जाती। फिर मूँगा सोनार और नेता कहार—भूत-प्रेत और जादू-टोने के नाम पर मिश्रानी से नगद और सामान लूटनेवाला।

बिजली के जीवन से जुड़े हैं शहरी पात्र। पिता राय साहब मानचन्द—गोल-मटोल गुलथुल बदन, मयाना क़द, गाढ़ा साँवला रंग, खिचड़ी बाल, आम की फाँक सी आँखें, आँखों पर चश्मा, चेहरे पर चेचक के दाग़, मूँछें सफाचट, एक ख़ासे जेंटिलमैन। माँ—बेचारी ग़रीब घर की लड़की, कुछ पढ़ी-लिखी नहीं। राय साहब के बच्चों की जननी बन सकी, यही उसके भाग्य की चरम गरिमा थी। राय साहब के मुसाहब पेंशन-याफ़्ता पड़ोसी मुंशी माजिद अली—रंगीन तबियत, मिजाज़ में नरमी, ज़ुबान में मिसरी, खुशामद का ख़ास माद्दा। बिजली का पहला प्रेमी सलीम—टेनिस और क्रिकेट का चैम्पियन, लम्बा क़द, कसरती गठन, चौड़ी छाती, गुलाब का-सा रंग, बड़ी-बड़ी भावविह्वल आँखें, ऊँची नाक, प्रशस्त ललाट—जवानों में भी जवान। घर से भागकर जिस होटल में सलीम के साथ बिजली ठहरी उसके मैनेजर मिस्टर अहमद अपनी कर्मपटुता से लगातार तरक्की करते

गये—भुनी खिचड़ी से पोलाव-जर्दा फिर चाय-कटलेट से लेकर बाजाप्ता लंच-डिनर। सुबह आठ बजे से ही आपकी व्हिस्की की चुस्की धीरे-धीरे शुरू होती और जब आधी रात के लगभग आँखों के गुलाबी डोरे गुलनार हो जाते तब मुँह से धुएँ का बादल उड़ाते हुए और हाथों में छलकता हुआ फेनिल टम्बलर लिए वह मस्तानी चाल से क्वाटर की ओर चलते। मज़ाक पसन्द खानसामा टेबुल पर चमचे से ताल देता हुआ गुनगुनाता—

किस नाज़ से जाता है अहमद मियाँ दीवाना,
एक हाथ में चुरुट है, एक हाथ में पैमाना।

बनारस के पंडों और रईसों का चित्रण भी उतना ही सशक्त है—उनकी दिनचर्या, उनका खानपान, उनकी आस्था और विश्वास, कभी दो-चार पंक्तियों में और कभी कई पृष्ठों में। बेला और बिजली के जीवन में जिसकी जितनी बड़ी भूमिका रही उसे वैसा ही स्थान दिया गया। एक बहुत बड़े कैनवास पर दर्जनों व्यक्तियों वाले चित्र में एक अजीब तरह का सन्तुलन है जिसमें सभी गौण पात्र प्रमुख पात्रों के लिए बहुत ही सशक्त पृष्ठभूमि का निर्माण करते हैं और कभी सीमा का अतिक्रमण कर प्रमुख पात्रों पर से ध्यान विचलित नहीं होने देते। इतने अधिक पात्रों का ऐसा निर्वाह लेखक के उपन्यास-कौशल का जीवंत और सशक्त उदाहरण है।

इस उपन्यास के साथ-साथ लेखक के अन्य उपन्यासों का भी एक और महत्त्व-पूर्ण पहलू है जिसका संकेत लेखक ने भूमिका में ही किया है—"वास्तविकता की सादी ज़मीन पर नैतिकता की किनारी टँकी है—यथार्थवाद के मौसम में आदर्श-वाद के छींटे है।"

इस काम में लेखक ने असाधारण सफलता पायी है। गाँवों के हिन्दुओं का जीवन रूढ़ियों से ग्रस्त था। धर्म के नाम पर एक ओर कर्मकांड था तो दूसरी ओर अंधविश्वास। बेला का बाल-विवाह इसी का फल है। बेला के ससुर ने दूसरे लड़के दिनेश की भी शादी एक बच्ची से कर दी। सास की झिड़कियाँ, बात और लात एक तरफ़ और देवर की कामुक दृष्टि दूसरी तरफ़। गाँव के रूढ़िग्रस्त परिवार में एक बाल-विधवा का यही प्राप्य था। और जब बेला गर्भवती हो गयी तो दिनेश के चेहरे पर शिकन न थी, उसकी मूँछों की ऐंठ बराबर बनी थी। दिनेश की गाँठ में पैसे भरे थे, घर के कोठों में अनाज भरा था।

ग्रामीण जीवन की दूसरी झाँकी है महंत गिरिधारी लाल का परिवार। गिरिधारी लाल स्वयं अनमेल विवाह के शिकार थे—पत्नी युवती, पति बालक। लेकिन गिरिधारी लाल ने कर्मकांड का दामन पकड़कर अपने को बहकने से रोका। महंथी के अलावा कान फूंकने का खानदानी पेशा—जिस इष्टदेव के दरबार में

दाख़िल होने का कोई आवेदन करे, पासपोर्ट आपकी जेब में था। और मिश्रानी झाड़-फूँक और झाल-मंजीरेवाले पचरों में घिरी। शरीर पर नये-नये आभूषण, वैद्य के घर से तरह-तरह की औषधि और हरामखोरों का अच्छा खासा काफ़िला चारों ओर से घेरकर अपना उल्लू सीधा करने में व्यस्त। मिश्रानी की मान्यताओं का चित्रण करते समय लेखक ने सूत्र रूप में लिखा है—

"इसी गँदले वातावरण में पनपकर पली थी, बेचारी अपने विचारों के व्यभिचार से मजबूर थी।" और यह 'व्यभिचार' कितना भयानक हो सकता है इसकी कल्पना तब होती है जब वह बेला को ग़ायब करा देने के लिए गेला भेजती है और उसमें असफल होने पर उसकी ही शह पाकर बेला की हत्या की भी चेष्टा की जाती है।

उस समय दलित और पीड़ित हिन्दुओं के लिए मुक्ति का एक सहज उपाय था—क्रिस्तान बन जाना। अस्पताल में बेला के सामने भी यह प्रस्ताव आया था। घर छोड़कर संन्यास लेते हुए महंथ गिरिधारी लाल मिश्र क्रिश्चियन बालकों के एक तरतीबवार जुलूस को देखकर हिन्दू धर्म के चिरन्तन मूल्यों को उजागर करते हुए लम्बा व्याख्यान देते हैं जो अन्य धर्मों पर आक्षेप नहीं, धर्म की आधार-शिला पर बल देता है।

सामान्यतः विराग और संन्यास की प्रवृत्ति का विश्लेषण अनूठा है—"कभी-कभी आपद के कंधों पर कल्याण की सवारी आती है। काँटों में भी फूल होते हैं और फूल में भी काँटे। आसमान पर मँडराते हुए बादलों के गर्भ में जीवनप्रद जल भी है और सर्वनाशी उपल भी, हमारी क़िस्मत से जो बरस जाये।" लेकिन इसके साथ ही बेला पर किये गये अत्याचारों की मीमांसा करते हुए लेखक ने यह भी कहा—"मन्दिर की बलिवेदी पर मासूम मेमने की हत्या कसाईख़ाने की खूँरेजी को भी मात करती है।"

और मन्दिर की बलिवेदी पर मासूम मेमने की हत्या का असली नज़ारा सामने आता है बनारस के चित्रण में। बेला और बिजली दोनों वारांगनाएँ बन चुकी हैं। बिजली तो खुलकर खेलती है। बेला शरीर का व्यापार नहीं करती लेकिन उस पर जान देता है शहर के एक मशहूर पंडे का बेटा, जो उसे रखैल बना कर रखने के लिए तैयार है पर विवाह के लिए नहीं। सारे समाज को इस नौजवान की इश्क़मिज़ाजी का पता है। पर उस पर कोई उँगली नहीं उठाता। वारांगना के घर आकर शराब पीना, सामिष भोजन करना—कुछ भी उसकी प्रतिष्ठा में बाधक नहीं बनता।

उपन्यास के अन्त में जब बिजली इस्लाम क़बूल कर शादी के लिए तैयार हो जाती है और एक संभ्रांत जीवन बिताने की हक़दार तो परम्पराग्रस्त हिन्दू-समाज की कुमान्यताओं की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट होता है। अपने तथाकथित प्रेमी

को दुतकारती हुई वह कहती है—"मैं ग़रीफ़ न सही, स्वाधीन तो हूँ और अगर शरीर बेचकर भी आत्मा की रक्षा कर सकी तो हमारा नुक़सान ही क्या हुआ।" बेला के प्रति असीम सहानुभूति से भरकर जब बिजली कहती है—"तुम पतिता नहीं, पीड़िता हो। तुम्हें जो पतिता कहता है वह ख़ुद पतित है", तो ऐसा लगता है कि तत्कालीन समाज के ठेकेदारों को ही लेखक ने 'पतित' की उपाधि से विभूपित कर दिया है।

ऐसी ही स्थिति बिजली के परिवेश के चित्रण में भी है। पाश्चात्य सभ्यता का चाकचिक्य अंधा बना देता है और मानवीय मूल्यों से अंधा विमुख हो जाये तो अचरज ही क्या। बिजली के पिता धर्माचरण के दिखावे ज़रूर करते हैं पर विषया-सक्ति के किसी भी पहलू में उन्हें झिझक नहीं होती। लड़की जब विजातीय के साथ भाग जाती है तो अचरज ही क्या। होटल के मैनेजर मिस्टर अहमद, नवाब साहब, मिसेज सूरी आदि के विश्लेषण से साफ़ झलकता है कि 'आधुनिक सभ्यता' का दम भरनेवालों में किसी भी धर्म के मूलभूत मानवीय सिद्धान्तों के प्रति कोई आस्था नहीं। जैसे हिन्दुओं का कर्मकांड वैसे मुसलमानों का रोज़ा-नमाज़। सभी जगह किसी-न-किसी ओट में विषयासक्ति का ही साम्राज्य फैला दिखाई देता है।

इस तरह के विश्लेषण द्वारा उपन्यास के कथा-प्रवाह में बाधा ज़रूर पड़ती है। मगर दूसरी तरफ़ से देखें तो यह तत्कालीन सामाजिक स्थिति का एक प्रामाणिक दस्तावेज़ भी बन जाता है जिसके बिना चरित्रों का क्रमिक विकास और उनकी चरम परिणति की तर्कसंगति हाथ नहीं लग सकती। आखिर बेला संन्यासिनी क्यों बनी? शारीरिक सुख-सुविधा का जीवन बिताने के लिए उसके सामने कई तरह के रास्ते आये। लेकिन जिस धर्म के अन्धविश्वास और निहित स्वार्थियों ने उसे कुचला-मसला और 'पतिता' बना दिया उसी धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों ने उसमें यह आस्था भरी कि शरीर बेचकर भी आत्मा की रक्षा कर सकी तो कोई नुक़सान नहीं हुआ।

बिजली ने इस्लाम क्यों क़बूल किया? वहाँ उसके लिए एक संभ्रांत जीवन बिताने की गुंजाइश थी और मातृत्व के आसन्न बोझ ने ऐसे आश्रय के लिए उसे मजबूर कर दिया था। उच्छृंखलता का दौर समाप्त हो चुका था।

राम हो या रहीम, बेला और बिजली—दोनों ने अपना आश्रय ढूँढ़ लिया।

सामाजिक मान्यताओं का विश्लेषण और उस पर टीका-टिप्पणी घटना-क्रम के साथ-साथ चलती है। ऐसा लगता है कि कोई कुशल सर्जन ऑपरेशन थिएटर में मरीज़ का ऑपरेशन तो कर ही रहा है, साथ-ही-साथ दर्शकों को प्रशिक्षित भी करता जा रहा है। उपन्यास को पढ़ने पर एक प्रकार के 'लेक्चर डिमॉन्स्ट्रेशन' का आभास मिलता है जो लेखक की उपन्यास-कला की अपनी विशिष्टता है।

कलेवर की दृष्टि से 1939 में रचित **'पुरुष और नारी'** छोटा उपन्यास है। तब तक का समाज भी काफ़ी बदल चुका है। स्वतंत्रता आन्दोलन उफ़ान पर है। छात्र स्कूल-कॉलेज का बहिष्कार कर देश के काम में जुटते हैं और उन्हीं में है इस उपन्यास का नायक अजीत। बड़े भाई और भाभी उसकी शादी कर देना चाहते हैं। भाभी की ममेरी बहन सुधा के रूप-गुण पर रीझकर वह दुविधा में पड़ जाता है—एक तरफ़ देश की पुकार और दूसरी तरफ़ उसके दिल की गुहार। दिल पर पत्थर रखकर वह अहमदाबाद चला जाता है, वहाँ से लौटकर आश्रम खोलता है और जब दो वर्षों के बाद भाई-भाभी से मिलने जाता है तो पता चलता है कि सुधा का विवाह एक अधेड़ विधुर से हो गया जिसके दो बड़े बेटे हैं और जिसकी चकल्लस की क्षुधा नहीं गयी है। सुधा का बड़ा सौतेला बेटा महीप उसी की तरह देशसेवा का व्रत ले चुका है। महीप के साथ उसकी सौतेली माँ सुधा भी खिंचकर आ जाती है आश्रम। कथानक में मोड़ आते हैं। सुधा का सान्निध्य पाकर अजीत लड़खड़ाता है लेकिन सत्याग्रह में भाग लेता हुआ जेल का रास्ता पकड़ता है। लौटता है तो बिल्कुल बदला हुआ। सुधा उसे घर बसाने को कहती है और वह अपना दिल बसाना चाहता है। सुधा के पति और महीप के पिता विलायत रहने लगे हैं। जेल से लौटने पर घर की सारी ज़िम्मेदारी महीप पर पड़ती है। सुधा को भी आश्रम छोड़ना पड़ता है। अजीत का सारा नियम-संयम टूट जाता है। वह आश्रम के रास्ते पर शरीर का व्यापार करनेवाली एक सस्ती औरत की झोपड़ी में भी जाता है। उसकी ज़िन्दगी का अता-पता लेता है और पाता है कि जिस ग़रीब लड़की को एक दिन उसने जलेबियाँ खिलायी थीं, वह अब बाज़ारू औरत बन गयी है। अजीत उसे सोने का चेन दे डालता है, सही रास्ते पर लाने की कोशिश करता है। लोगों में कानाफूसी भी होती है। सुधा लौटती है तो पाती है कि अजीत शराब भी पीने लगा है। एक दिन जब सुधा अजीत को समझा रही होती है तो वह अपना संयम खो बैठता है। आँचल छुड़ाकर भागती हुई सुधा सीढ़ियों से गिर पड़ती है और अन्तत: आत्महत्या कर लेती है। अजीत महीनों पागल बना रहता है। मगर हाँ, जिस दिन वह उस बदली हुई सस्ती बाज़ारू औरत बिन्दी की शादी अपने एक सहकर्मी से करा देता है, उसकी हँसी वापिस लौट आती है। कभी-कभी बड़े प्यार से वह आग्रह करता है—बिटिया रानी, कुछ गाकर सुनाओ तो। और बिटिया रानी (बिन्दी) सितार के तार कस कर मीठे गले से गाती है—'श्याम सलोना टोना करि गये रतिया।'

कथानक का मूल केन्द्र है देश-सेवा, त्याग और बलिदान की आधारशिला की खोज। कुछ ऐसे हैं जो इसे पेशा बनाये बैठे हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो जोश-ख़रोश में दो-चार क़दम चलते हैं फिर पीछे हट जाते हैं। अजीत देश-सेवा का व्रत तो लेता है पर मन की कामनाओं पर, सुधा को पाने की अदम्य लालसा, पर विजय नहीं पा

सकता । और सुधा ऐसी स्त्री है जो प्रेम को शरीर-सम्पर्क से दूर, सिर्फ़ अन्तरात्मा की पुकार मानकर अजीत के बताये रास्ते पर चलती हुई अन्ततः उसे ही बचाने के लिए अपना जीवनदान कर देती है ।

लेखक के उपन्यासों में लघु उपन्यास **'सूरदास'** का अपना विशिष्ट स्थान है । मुख्य चरित्र है गाँव के दो अंधे—सूरदास और धनिया । सूरदास—कट्टर भक्त, कंठीधारी, रामनाम का जाप करनेवाला, अपने विश्वास के आधार पर अपने अंधेपन को भी एक अजाना वरदान समझनेवाला । और धनिया—शोख, चुलबुली छेड़खानी में रस लेनेवाली । दोनों का काम—राजा साहब की कोठी में पंखा खींचना । दूसरी ओर है गाँव के आँखवाले—ग़रीब और अमीर, कुछ दुनिया की रंगरेलियों में डूबकर अंधे बने, कुछ की आँखें कभी खुलतीं तो कभी बन्द होतीं । सूरदास ने तो अपने पियक्कड़ चाचा को भी कंठी पहनाकर सुधारने की कोशिश की । लेकिन व्यर्थ । जब से धनिया आयी, सूरदास की मुसीबत आयी । वह औरत के स्पर्श से भी बचता था और धनिया उसके कंधे पर हाथ रखकर पंखे की डोरी टटोलती । इतना ही नहीं, एक दिन उसका सर्वस्व, उसका झोला भी ग़ायब । झोला तो मिल गया पर सूरदास नौकरी छोड़कर मठ वापस चला गया । धनिया उसे कहीं का नहीं छोड़ेगी । मगर सूरदास फिर आ जाता है भीख माँगता । और धनिया के माफ़ी माँगने पर काम सँभाल लेता है । धनिया भी सूरदास के पास बैठकर रामभजन करती है । छेड़ के लिए भी कभी कृष्ण का नाम ले लेती है तो सूरदास बिदक उठता है । कभी-कभी ऐसा भी होता कि दोनों चुपचाप बैठे रहते—सूरदास मालती के झोंप के साये में और धनिया झोंप के छोर पर—कोई बात नहीं, कोई हरकत नहीं, सिर्फ़ गतिशील रहती प्राणों की एक निविड़ पुलक लीला । जवान धनिया पर गाँव के मनचलों की नज़र थी और सूरदास तथा धनिया का विवाह हो नहीं सकता था—वह ग्वाला और वह मालिन । धनिया की शादी एक बूढ़े लेकिन मालदार शराबी से कर दी गयी है । कुछ दिन ससुराल रहकर धनिया फिर वापस आ जाती है ।

धीरे-धीरे धनिया उतनी बुरी नहीं लगती सूरदास को । छेड़खानी की नौबत आती तो सूरदास अपनी लाठी ज़रूर सँभाल लेता । पर एक रात जब पूर्णिमा का चाँद चमक रहा था, धनिया का जी कैसा तो हो गया । वह पंख लगाकर उड़ जाने के लिए छटपटाने लगी । सूरदास ने समझाया कि ऐसे में ही कृष्ण ने बंसी बजायी थी । फिर धनिया बंसी की धुन के लिए तड़प उठी, किसी के पैर पर सर टेकने की लालसा लिए सिहर उठी । पंखे की डोरी हाथ से छूट गयी और उसे टटोलती हुई वह झुकी तो उसका सिर सूरदास के घुटनों पर ढक से बोल गया । प्राणों की पुकार को एक दिन सुनसान रात में धनिया ने वाणी दी—'तुम क्यों नहीं हुए हमारे ।'

धनिया को उसका पति जब मारता-पीटता अपने घर ले गया तो आँधी-पानी की परवाह किये बिना सूरदास निकल पड़ा। बहुत ढूँढ़ा गया पर उसका पता न चला। उसे ढूँढ़ती हुई धनिया भी आयी और जब पता न पा सकी तो जाने कहाँ चली गयी। अब तो मालती की झोंप सूनी है और बुलाकी के तोते का पिंजरा लटका रहता है। कभी-कभी सूरदास की ही तरह तोता लगातार बोलने लगता है—जय सियाराम, जय-जय सियाराम।

सूरदास और धनिया के पास न आँखों की लीला है और न पढ़े-लिखे लोगों की वाक्चातुरी। उनके पास है सहज सरल हृदय और उनकी मूक पर प्राणवान भाषा जो मौन का सहारा लेकर एक-दूसरे तक पहुँचती रहती है। मुखर और चतुर लोगों का जो जाल लेखक ने उनके इर्द-गिर्द बिछाया है उसमें उन अंधों का चरित्र और चमक उठाता है। लगता है कि पन्ना और पुखराज की कतरनों के बीच हीरा और नीलम जड़ा है।

बंगाल की अकालवाली पृष्ठभूमि पर लिखा गया उपन्यास **'संस्कार'** एक मध्यमवर्ग की गाथा है। बीमार पति और भूख से तड़पते परिवार को बचाने के लिए विमला के पास एक ही रास्ता है—शरीर का व्यापार। इसी पेशेवाली पड़ोसिन विनोदिनी सहायता करती है। पति अनिल ठीक हो जाता है। गाड़ी चल निकलती है लेकिन अनिल को विनोदिनी फाँस लेती है। शराब और ऐय्याशी में उलझाकर उसे अपना बनाना चाहती है। अनिल विनोदिनी के साथ तो होता है पर उसका मन पत्नी विमला के पास ही रह जाता है। इसी काँटे को दूर करने के लिए विनोदिनी सारा क़िस्सा सुना देती है। अनिल विनोदिनी के पास ही पड़ा रहने लगता है। एक रात प्रतीक्षा करती विमला विनोदिनी के घर आधी रात को जा धमकती है और अनिल तथा विनोदिनी को एक ही बिस्तर पर देखकर पहले तो सन्न रह जाती है पर समझा-बुझाकर उसे घर वापस ले जाना चाहती है। अकाल की मजबूरी में किये गये अपने कर्मों को संस्कार के कारण अक्षम्य पाप समझनेवाली विमला गंगा की धारा में शरण ढूँढ़ लेती है। अनिल पुरुष है। उसका संस्कार है कि पुरुष कुछ भी करे, क्षम्य है। वह शराब की बोतल में अपनी शांति तलाशता है।

शरीर के बाज़ार में विमला खुशी से नहीं गयी थी। परिवार के सभी सदस्य—जीजी, सास, पुरोहित ने अपनी सहमति दिखायी थी, भुखमरी से बचने का एकमात्र रास्ता बताया था। अनिल ने अपनी वासना की तृप्ति के लिए विनोदिनी का साथ दिया था क्योंकि विमला पहले जैसी विमला नहीं रही थी, अपराध-बोध से कुंठित और त्रस्त स्त्री बन गयी थी। यह तत्कालीन संस्कारों का ही प्रभाव था कि अनिल ने विमला का अपराध अक्षम्य मान लिया, स्त्री के भीतर की पत्नी और माँ को जानने और समझने की कोशिश ही नहीं की।

'पूरब और पच्छिम' लिखा तो गया 1951 में लेकिन कथानक शुरू होता है 1907 में। पादरियों ने क्रिश्चियन धर्म के विस्तार का जो क्रम शुरू किया था वह रंग लाने लगा था। पढ़ी-लिखी एंग्लोइंडियन क्रिश्चियन लड़कियाँ सामने आ रही थीं। ऐसे अंग्रेज अफ़सर भी थे जिनकी अफ़सरी रह गयी थी, जवानी चली गयी थी। "गोरे साहब काले बाल पर लुटे, काली बीबी गोरे रंग पर। किसी के दोनों हाथ लड्डू न रहे। इधर खोया, उधर पाया।"

लेखक स्वयं इस उपन्यास का एक पात्र है जिसमें आपबीती घटना का-सा रूप निखरता है। एक अंग्रेज़ मेजर, पहली गोरी पत्नी से दो लड़कियाँ। फिर हिन्दुस्तानी औरत से दूसरी शादी। बड़ी लड़की किसी अंग्रेज अफ़सर से ब्याही और छोटी लड़की सौतेली माँ की दासी। पड़ोसी होने के नाते जब परिचय हुआ तो लेखक ने रविबाबू की 'काबुलीवाला' कहानी से प्रभावित छोटी बच्ची मेरी का नाम मिनी रख दिया। सौतेली माँ बन-सँवरकर शाम को निकलती तो कब लौटती वही जाने। मिनी मेजर साहब की आँखों का तारा ज़रूर थी पर दरअसल थी घर की नौकरानी। लेखक ने जब उसका नाम किसी स्कूल में लिखवा देने की ज़िद की, रेवडेंट फ़ादर से सिफ़ारिशी खत्त भी ला दिया तो भी बेचारी स्कूल का मुँह नहीं देख सकी। तभी उसकी दीदी कलकत्ते आयी। मिनी को खूब सजाया गया और चूँकि लेखक के घर से कुछ सामान मुहैया करना पड़ा इसलिए लंच पर लेखक भी बुलाया गया। फिर मिनी की पढ़ाई की बात निकली और बड़ी बेटी, अंग्रेज़ दामाद तथा अन्य अतिथियों के सामने अपनी प्रतिष्ठा बचाने के लिए मिनी को स्कूल भेज दिया गया। मेम साहब घर से निकलती और लेखक जम जाता मेजर साहब के साथ गप्पबाजी में, साथ-साथ मिनी की पढ़ाई भी हो जाती। मिनी और उसकी बहन ने लेखक को हृदय से अपना भाई मान लिया।

तभी स्वदेशी आन्दोलन की लहर उठी। बीडन पार्क में भाषण होते—विपिन पाल, सुरेन्द्र नाथ और अरविन्द घोष। लड़के द्विजेन्द्र लाल राय का 'आमार देश' गीत क़तार बाँधे कोरस में गाते। जब कन्हाई दत्त ने सरकारी गवाह नरेन्द्र को गोली मारी तो कॉलेज के छात्र गाने लगे—'आज खेली है बंगाल में कन्हैया ने होली, अब भूल गया रंग बरसाने का।'

अंग्रेजों का दमन-चक्र जमकर चला। लेखक की बीमारी पर मिजाज़पुरसी के लिए जब मेजर साहब आये तो घर में 'बंदेमातरम' की फ़ाइल और अरविन्द की तस्वीर देखकर सरकार को इत्तिला कर बैठे। लेखक को कलकत्ता छोड़ना पड़ा और बरसों बाद 1914 में लेखक फिर कलकत्ता गया एम. ए. की परीक्षा देने तो मिनी जवान हो चुकी थी।

लेखक के सम्पर्क में भारतीय आदर्शों ने धीरे-धीरे मिनी के मन में अपनी जगह बना ली। उसे टेनिस, क्लब, डांस, जी-बहलाव की व्यर्थता का आभास होने

लगा और वह ढूँढ़ने लगी चिरन्तन प्रश्नों के उत्तर—हम कहाँ से आये, किसलिए आये और क्या है हमारा चरम ध्येय। भारतीय चिन्तन और दर्शन की किताबों में मन रम गया।

तब भारतीय नौजवानों पर खास नज़र रखी जा रही थी। मिनी जैसी अंग्रेज़ लड़की का एक भारतीय के साथ होटल जाने की जुर्रत करना, पार्क में घूमना सभी को खटकने लगा। बहनोई ने तो यहाँ तक इशारा किया कि अगर घर में कोई बाल-बच्चा हो तो मिनी नर्स बनकर साथ रह जाये। वरना इस तरह समाज में बदनामी होती है। पर मिनी तो बहन बन चुकी थी। और इसी नाते एक रात वह लेखक से विनती कर गयी कि वह कलकत्ता छोड़ दे। कहीं भाई को कुछ हो गया तो बहन जान दे देगी। लेखक ने कलकत्ता छोड़ दिया।

बरसों के बाद लेखक कश्मीर गया, वहाँ के एक बड़े अफ़सर का मेहमान बन कर। वहीं फैंसी ड्रेस बाल में मिनी से फिर मुलाक़ात हुई। मिनी इंगलैंड चली गयी थी और वहीं से आयी थी एक 'ग्रुप' के साथ, भारतीय मूर्तियों और कला की अलभ्य वस्तुओं की खोज में नहीं, भारतीय मूल्यों की खोज में। फिर वह अमरनाथ आदि की यात्रा पर निकल पड़ी। एक बार हरिद्वार के पास स्वर्गाश्रम जाने के लिए गंगा पार करते समय उलटी ओर से आती हुई डोंगी पर भारतीय कपड़ों में लैस कुछ विदेशियों के बीच मिनी की आँखों की एक झलक का भ्रम जरूर हुआ। कई महीनों बाद उड़ती हुई खबर मिली कि विदेशियों की एक पार्टी मानसरोवर की चोटियों की चढ़ाई में बर्फ़ के तूफ़ान में घिर कर ढेर हो गयी।

बीसवीं सदी के प्रारम्भ में देश की जो स्थिति थी उसका यह उपन्यास एक प्रामाणिक दस्तावेज है। उस समय कलकत्ता देश का सबसे महत्त्वपूर्ण शहर था और था ब्रिटिश सत्ता का केन्द्र—जहाँ अंग्रेज़ अफ़सरान, संभ्रांत कुलों के संपन्न शिक्षार्थी युवक, पान की दुकानें और पहलवानों के अखाड़े थे—और जहाँ सिर्फ़ गोरे-काले का भेदभाव था, धर्म और आर्थिक सम्पन्नता का नहीं। वहीं मिनी के चरित्र का विकास हुआ नौकरशाही की चमक-दमक और पारिवारिक संकट के बीच। उम्र का तक़ाज़ा था कि रस-विलास की तरंगों में वह भी बह जाती। पर उसकी प्रवृत्ति दूसरी तरह की थी। लेखक के सम्पर्क में, सहज निश्छल भाई का प्रेम पाकर उसकी खोज गहरी होती गयी। जीवन के रास्ते पर बहुत-कुछ सहना पड़ा लेकिन भारतीय चिन्तन और अध्यात्म के प्रति उसकी आस्था बढ़ती गयी।

किसी अर्थ में यह कहा जा सकता है कि यह उपन्यास मिनी के चरित्र के विकास की अपेक्षा उसके व्यक्तित्व के विकास की कहानी है जिसमें बाह्य घटनाओं की भूमिका गौण है, अन्तर के मंथन का प्रमुख स्थान है और आज तो इस उपन्यास को पढ़कर मैडम ब्लावाट्स्की, एनी बेसेंट और मीरा बेन के व्यक्तित्व की याद नहीं आ जाती? भारतीय चिन्तन और अध्यात्म से प्रभावित एक अंग्रेज़ महिला

'सोफ़िया' भी प्रेमचन्द की कृति 'रंगभूमि' की नायिका है। लेकिन सोफ़िया के विकास का उत्स है गुलाम भारत के स्वाधीनता आन्दोलन के प्रति सहज सहानुभूति। मिनी की जिज्ञासा और गहरी है। वह भारतीय दर्शन और चिन्तन से प्रभावित है। इसलिए सोफ़िया के चरित्र में एक प्रकार की द्वन्द्वात्मकता है जो उसे आकर्षक बनाती है तो मिनी के व्यक्तित्व में मर्मस्पर्शी तरलता और अलौकिक स्निग्धता है। पूरा उपन्यास तत्कालीन समाज के बाहरी स्वरूप की झाँकी तो दिखाता ही है, भारतीय चिन्तन-मनन का अन्तर्मुखी दिग्दर्शन भी कराता है।

1951 में ही प्रकाशित हुआ लेखक का उपन्यास **'चुम्बन और चाँटा'** एक वेश्यापुत्री की मार्मिक कहानी, जिसमें तन और मन की मान्यताओं का विलक्षण संघर्ष और निर्वाह हुआ है। गुलाबी जवान होती है तो उसके सामने दो रास्ते नज़र आते हैं। एम. ए. का छात्र कन्हैया उसे प्यार करता है, उससे शादी भी करना चाहता है। लेकिन इस रास्ते में कन्हैया को क्या-क्या झेलना पड़ेगा, इसकी कल्पना गुलाबी के लिए कठिन नहीं। दूसरा रास्ता है माँ का पेशा अपनाना। बीमार माँ की जगह वह भजन गाने के लिए मन्दिर जाती है और वहीं वृन्दावन के सन्त से मार्ग-दर्शन मिलता है—मन को शरीर से अछूता रखो। मन का आराध्य तो परम पुरुष है। अगर मन उसकी आराधना में लगा रहे तो जो कुछ करने पर तन मजबूर होता है उससे कुछ आता-जाता नहीं।

गुलाबी ने यौवन के प्रथम पुलक का अनुभव किया था कन्हैया के चुम्बन से लेकिन वह अब मन को समेट लेती है। कन्हैया का चाँटा भी सह लेती है। माँ तन का सौदा करती है। अधेड़ उम्र के सेठ जी की बाक़ायदा रखैल बन जाती है गुलाबी। और जिसे सुहाग रात कहते हैं उस रात निर्वसन होकर गुलाबी अपना तन तो समर्पित करती है पर बचा लेती है अपना मन। गहनों, कपड़ों, रुपयों का प्रलोभन उसे हिला नहीं पाता। सेठ जी की सेवा तन से करती है और मन लगा रहता है अपने आराध्य पर। कभी-कभी सेठ जी उसका मन जीतने के लिए तड़प उठते हैं लेकिन गुलाबी टस-से-मस नहीं होती और सेठ जी के देहान्त के बाद वृन्दावनवासिनी हो जाती है।

इस उपन्यास का अपना अनोखा स्वाद है। ऐसे पात्र हैं, जिनके इर्द-गिर्द सामाजिक समस्याओं और व्यक्तिगत ख़ूबियों और खामियों के रंगीले ताने-बाने कई तरह से बुने जा सकते थे। लेखक ने इनकी ओर से आँखें नहीं बन्द की हैं। एक होनहार नौजवान को विलायत भेजकर आई. सी. एस. बनाने और फिर जामाता पद पर प्रतिष्ठित कराने की चालें, धर्म के ध्वजाधारियों के दिखावे, अमीरों के चोंचले—सभी कुछ है इस उपन्यास में। लेकिन शिल्प ऐसा है कि गुलाबी की अटूट आस्था और दृढ़ निष्ठा पर से ध्यान कभी विचलित नहीं होता। सेठ जी की रखैल की हैसियत से जब उसके पास धनाभाव नहीं रहता तो हमेशा

ग़रीबों की देखभाल करती-करती वह सेठ जी की भी आँखें खोल देती है। इस चित्र के रंग चटक और शोख नहीं हैं। चुलबुलापन या गोटा-किनारी की बहार भी नहीं है। है एक संयमित प्रवाह। आँधी-तूफ़ान नहीं है। है शांत शीतल समीर। पाठक चमत्कृत ही नहीं होता, परितृप्त भी होता है। शरीर का सौदा करने पर एक मजबूर वेश्यापुत्री 'चुम्बन और चाँटा' दोनों को रोचक और रसपूर्ण बना देती है।

कथा-यात्रा

राधिकारमण प्रसाद सिंह की प्रकाशित रचनाओं का प्रारम्भ जिस कहानी से हुआ था वह थी—कानों में कँगना। उसके बाद नाटक 'नये रिफ़ॉर्मर' (प्रहसन-1911) और 'कुसुमांजलि' (कहानियाँ-1911)। जैसे साहित्य की विधाओं को टटोलने की प्रक्रिया थी। फिर कृतियों का जो क्रम शुरू हुआ (देखिये परिशिष्ट-ख) उससे ऐसा लगता है कि उपन्यास (वृहत और लघु) तथा कहानी के बीच होड़ाहोड़ी शुरू हो गयी। इस लम्बी कथा-यात्रा में अन्ततः संस्मरण भी शामिल हो गये। कहानी, संस्मरण, बड़ी कहानी और लघु उपन्यास की सीमाएँ लक्ष्मण रेखा की तरह रूढ़ नहीं रहीं।

पहली कहानी 'कानों में कँगना' कई मायने में मील का पत्थर है, लेखक की कथा-यात्रा में भी और हिन्दी कहानी में भी। इस कहानी में नवयौवन की पुलक भरी सिहरन की-सी तरलता है। रेखाएँ स्पष्ट और सशक्त हैं। लेकिन उनमें जो रंग भरे गये हैं वे चटक और शोख़ नहीं। कहानी के प्रारम्भ में ही कँगने से खेलती हुई नायिका उसे कानों पर रखकर जब सहज परिहास में कहती है 'कानों में कँगना' तो न नायिका और न नायक को पता रहता है कि दोनों के हृदय में प्रेम का बीज अंकुरित हो गया है। विलक्षण संयम और शैली की पकड़ का प्रदर्शन करता हुआ लेखक न तो इसके विस्तार की ओर मुड़ता है और न ही उक्तियों, विश्लेषणों का सहारा लेता है। नायिका का अभिभावक अपनी अनुभवी आँखों से आकर्षण को पहचान कर जब दोनों को प्रणय-सूत्र में बँधने का आशीर्वाद देकर चला जाता है तभी नायक-नायिका की ही तरह पाठक भी चकित-विस्मित रह जाता है।

कथानक के विकास में कोई नाटकीयता नहीं, कोई अचानक मोड़ नहीं है। वेश्या के प्रेम में पड़कर नायक पत्नी के गहने बेचता है और यह भी नहीं महसूस करता है कि उसकी बीमार पत्नी मरणासन्न है। कहानी के अन्त में दम तोड़ती हुई नायिका कहती है कि एक ही गहना बचा है—कानों में कँगना। नायिका के सहज सरल हृदय की ऐसी झाँकी सामने आती है कि छाती दरक उठती है, ठीक उसी तरह जिस तरह—'गोदान' (प्रेमचन्द) के अन्त में होरी की उक्ति सुनकर

दरकती है—कहा-सुना माफ़ करना।

'कुसुमांजलि', 'गाँधी टोपी', 'सावनी समाँ' से लेकर 'जानी-सुनी-देखी माला', 'अबला क्या ऐसी सबला', 'बिखरे मोती' (खण्ड-1) में दर्जनों कहानियाँ संगृहीत हैं। 'जानी-सुनी-देखी' माला में कुछ कहानियों को एक अंश में रखा गया है जिसका नाम है 'नारी क्या एक पहेली'। स्पष्ट है कि लेखक ने 'अबला क्या ऐसी सबला' और 'नारी क्या एक पहेली' में उन कहानियों को स्थान दिया है जो पुरुष और स्त्री के सम्बन्धों को टटोलती हैं और विभिन्न परिस्थितियों में ऐसे नतीजों पर पहुँचती है जिनकी समष्टि ही प्रामाणिक और सामग्रिक चित्र उपस्थित कर पाती है नारी के हृदय का।

'हवेली और झोपड़ी' तथा 'देव और दानव' नामकरण ही कथावस्तु की ओर ध्यान आकर्षित करता है। लेकिन 'हवेली और झोपड़ी' में वर्ग-संघर्ष की गंध नहीं मिलेगी, विलासिता और दरिद्रता के हाहाकार का चित्रण ज़रूर मिलेगा। लेखक का ध्येय स्पष्ट है—इन सबके बीच मानव हृदय की पहचान जिसे न तो झोपड़ी की दरिद्रता ही ढँक पाती है और न हवेली की विलासिता ही गुमराह कर सकती है। देव और दानव में मनुष्य के भीतर ही पनपते-सुलगते देव और दानव का चित्रण है। देवलोक से कोई देवता नही आता और न असुर लोक से कोई दानव। सभी मनुष्य के भीतर ही है।

बड़े शहरों से लेकर गाँवों तक, रजवाड़ों से लेकर कंगालों तक को बहुत ही निकट से देखने का अवसर लेखक को मिला था। इसलिए उनकी रचनाओं में समाज के सभी वर्गो के पात्रों का चित्रण बहुत ही सशक्त बन पड़ा है। रईसों, मध्यम वर्ग के लोगों, भिखमंगों और गायिकाओं का चित्रण अन्य लेखकों ने भी किया है। लेकिन कुछ ऐसे लोगों पर भी उन्होंने कहानियाँ लिखी हैं जिन्हें शायद ही किसी अन्य लेखक ने छुआ हो। यह संकेत 'जानी-सुनी-देखी' माला में गूँथी हुई पहली कहानी 'अपनी और परायी' की ओर है। कहानी गाँव की है। नायिका है पहलवान की बेटी मिसरी—आवाज़ में मिसरी और मिजाज़ में मिर्च। नायक है नाच-गाने का पेशा करनेवाला बिदेसी। मिसरी बिदेसी की भौजाई की छोटी बहन है। बिदेसी के नाच-गाने की धूम है। दोनों की शादी तय हो जाती है। दोनों भविष्य के सुनहरे सपने देखने लगते हैं।

लेकिन बिदेसी को जब लहँगा पहनकर नाचते, पुरुषों की भावभंगियों और इशारों की कामुकता पर एक स्त्री का अभिनय करते हुए मिसरी देखती है तो उसी का दिया हुआ कंठा फेंककर मारती है और लापता हो जाती है। फिर कुछ वर्षों बाद पता चलता है कि उसी महफ़िल में बिदेसी के नाच से परास्त होने वाली वेश्या बिजली का रखैल बना बिदेसी बोतल में अपने को डुबोकर जी रहा है।

अन्य बड़ी कहानियों की ही तरह इस कहानी में भी फैलाव है लेकिन नायक

और नायिका के चित्रण में विलक्षण संयम और कसाव है। दोनों खुलकर कभी बात भी नहीं करते, लेकिन दोनों तक दोनों की बात पहुँच जाती है। दोनों एक-दूसरे के प्रेम को सहज रूप में स्वीकार करते हैं। मिसरी रीझी तो थी बिदेसी के नाच-गाने पर ही। लेकिन तब, जब विदेसी कृष्ण बना था।

नायक-नायिका जिस हद तक हमारे सामने खुलते हैं उससे कहीं अधिक अपने ऊपर पर्दा रखते हैं। जो कुछ हम देख पाते हैं वह उनका तमाम जलवा नहीं है। जो कुछ हम ढूँढ़ पाते हैं वह उनका सम्पूर्ण परिचय नहीं। तभी तो बिदेसी से प्रेम करनेवाली उसकी मंगेतर कंठा फेंककर मारती है और लापता हो जाती है। नाच की महफ़िल में एक पुरुष से हार जानेवाली वेश्या उसे अपने घर बिठा लेती है। लेखक उन्हें अच्छी तराशवाले नगीने की तरह पेश करता है जिनका रंग, जिनकी चमक बदलती है हर जुम्बिश पर।

वैसे लेखक ने बाद की कहानियों को दो शृंखलाओं में सजाकर अपने लक्ष्य का परिचय दे ही दिया है। एक शृंखला है 'नारी क्या एक पहेली' और दूसरी शृंखला है 'अबला क्या ऐसी सबला'। पहली शृंखला में कहीं तो चपलता और अस्थिरता ही नारी का पर्याय है तो कहीं सतीत्व उसका अमोघ अस्त्र। कुल मिलाकर नारी का परिचय पहेली। दूसरी शृंखला में पुरुषों के षड्यंत्र में फँसकर भी कभी-कभी नारी अदम्य साहस और शक्ति का परिचय देती है तथा अपना 'सर्वस्व' बचा लेती है, पुरुष को भी पतन के गर्त में नहीं जाने देती।

इन सबसे अलग है एक छोटी कहानी 'माँ'। रतन एक बच्चे की माँ बन चुकी है पर उसकी जवानी उफान पर ही है। वह विधवा हो जाती है तो राजा बाबू षड्यंत्र रचते हैं, बीमार बच्चे की दवा के लिए रुपये देते हैं। लाचार हो वह शरीर समर्पण के लिए राजी भी हो जाती है। तभी राजा बाबू को पता चलता है कि वह तो ज़िन्दा लाश को गले लगा रहे हैं। मुट्ठी के रुपये फेंक रतन अपनी झोपड़ी आ जाती है। रिश्तेदार मोहन की भी नज़र है उस पर। बीमार सास जब दम तोड़ती है तो एक बड़ी रक़म का पता चलता है। रतन के दिन फिरते हैं। जलन से पड़ोसिनें कहती हैं—राजा बाबू की कमाई है। कुछ कहती हैं 'रांड' कहीं की। लड़का बड़ा होता है। बहू घर आती है। सास-बहू में झगड़े होते हैं। बहू भी उसे रांड कहकर पुकारती है और एक दिन जब बेटा भी बहू का पक्ष लेता हुआ उसे रांड कह देता है तो रतन घर छोड़कर मोहन के दरवाज़े पर पहुँच जाती है। वह पचास के क़रीब पहुँच चुका है। बिना किसी भूमिका के रतन सीधी तरह कहती है—मैं तेरा घर करने आयी हूँ मोहन। मैं अब रांड का नाम नहीं सह पाती। तू अँधेरे में मेरी माँग टीक दे। हुक्का पीता हुआ मोहन कहता है—जवानी का उतार आया तो तुझे भतार सूझा? निकल यहाँ से रांड कहीं की। एक अर्थ में कहानी का अन्त हो जाता है। लेकिन समाज में 'विधवा' की यातना को हृदय-विदारक बनाने के

लिए लेखक एक क़दम आगे बढ़ता है। अन्तराल के बाद कहानी का अन्त होता है : आज भी रतनी बुढ़िया इस जवार में सूखे पत्ते की तरह उड़ती-फिरती है'''साँझ-सवेरे ईंट-पर-ईंट रगड़-रगड़कर लाल बुकनी-सी तैयार करती है, चुटकियों से भर-भरकर सफ़ेद बालों की पाटी में सँवारती है, फिर फूलों की सूखी पंखुड़ियाँ बटोर-बटोरकर टिकुलियों की तरह ललाट पर चिपकाती है। हाँ, जब बच्चों का गिरोह उसे पा लेता है और 'रांड-रांड' चिल्लाकर चारों ओर से तालियाँ पीटता है, तो अजब खिसियानी-सी रोड़े चुन-चुनकर मारने दौड़ती है।

इस 'माँ' शीर्षक कहानी के अन्त में उजागर होती है वैधव्य की करुण गाथा। सतही तौर पर दोनों एक-दूसरे के विरोधी तत्त्व के रूप में आते हैं। पर वस्तुतः दोनों जुड़ते हैं एक ही उत्स से, भारतीय नारी के अन्तरतम से। मातृत्व की गरिमा ऐसी शक्ति देती है कि जवानी में वैधव्य की विभीषिका भी सह्य बन जाती है। लेकिन जब वही संबल छिन जाता है, जब माँ कहनेवाला 'रांड' कहने लगता है तो नारी विक्षिप्तता तक पहुँच जाती है।

लेखक की सभी कहानियों में 'कानों में कँगना' और 'माँ' की अपनी अलग पहचान है। लगभग साठ वर्षों की कथा-यात्रा में लेखक की कृतियाँ सामाजिक चेतना को सुधारने-सँवारने के बोझ से दबी-सी लगती हैं। कहीं-कहीं विश्लेषण और निदान का स्वर भारी हो जाता है और सहज प्रवाह में किसी हद तक बाधक भी। लेखक ने इसे स्वयं स्वीकारा है। लेकिन अपने अनुभव से लेखक ने यह भी महसूस किया है कि उचित समय पर चेतावनी मिले तो व्यक्ति अपनी दुर्बलताओं से ऊपर भी उठ सकता है। शायद इसीलिए सामाजिक कुप्रथाओं और कुमान्यताओं के प्रति कृतियों में ऐसा विश्लेषण दिखायी पड़ता है। लेखक अपने पाठकों को चेतावनी देता है और चुनौती भी।

उपरोक्त दोनों कृतियों में अलग से विश्लेषण और निदान का सिलसिला छोड़ दिया गया है। घटनाओं के घात-प्रतिघात से पात्रों के जीवन में ऐसे मोड़ आते हैं जो एक साथ उसकी शक्ति और मजबूरी को आमने-सामने खड़ा कर देते हैं। जवानी में रतन राजा बाबू की रखैल बन सकती थी। ग़रीब तबके की जवान स्त्रियों, विशेषकर निस्सहाय विधवाओं के लिए ऐसा करना समाज में किसी हद तक क्षम्य भी था। फिर मोहन वाला क्रम भी है। लेकिन इन तमाम प्रलोभनों को, सुख-सुविधा के सरल उपायों को ठुकरा देती है मातृत्व की गरिमा से मण्डित रतन। पर जब बेटा ही विधवा माँ को रांड कहे, तब ? पहली कहानी 'कानों में कँगना' की बात पहले ही लिखी जा चुकी है।

जीवन की सन्ध्या में लेखक संस्मरणों की ओर मुड़ता है। 'नारी क्या एक पहेली' की भूमिका में मानसिक स्थिति का विश्लेषण स्वयं लेखक के ही शब्दों में :

"पचास के उस पार जाकर आनेवाले कल को देखना तो आनेवाले काल को देखना है जैसे।

× × ×

अक्सर यौवन का अवसान तो वह सुनसान है कि बैठे-बैठाये दिल बुझ जाता है। ऊषा की लाली तो अपने दामन में उजाला लिए आती है, मगर गोधूलि की लाली छोड़ जाती है सर पर घुप्प अँधेरा।

कहाँ साँझ का तारा, कहाँ भोर का तारा। कहाँ उम्मीदों और उमंगों के अंजुमन में झूमती हुई बीसी और तीसी की मस्ती, और कहाँ अपनी उजड़ी हुई महफ़िल की रौनक़ की यादगार—परवानों—की ख़ाक छानती हुई पचास की ढलान की पस्ती।

× × ×

मगर यह महफ़िल की रंगीनी न रही तो फिर क्या ज़िन्दगी ही सूनी हो गयी किसी की? शरीर बुझे तो बुझे, दिल क्यों बुझेगा? निखार और उभार न सही, फलने और पकने का मौसम तो यही ठहरा। लेने के, सँजोने के दिन गये, देने के नहीं। और, देने में जो मौज है वैसी लेने में क्या होगी?

× × ×

अतीत की चिताभस्म को कुरेद-कुरेद कर हम लगते हैं वैसे दिनों को चुनने जो एक दिन सुखमय स्वप्नों से पलकें आँजते यौवन की पौर पर आये और आज भी चेतना के ताने-बाने में ज्यों-के-त्यों बने हैं। यों घंटों डूबे रहते हैं हम और अतीत की जाने कितनी तस्वीरें सिनेमा की रील की तरह फिरती रहती हैं पुतलियों के अन्दर। न सही वे आँखों के सामने, आँखों के अन्दर तो बस रही है निरन्तर।"

अपनी मानसिक स्थिति दरसाने के बाद लेखक ने अपनी मान्यताओं का भी स्पष्टीकरण किया है—

"मगर भाई मेरे, युग और समाज का रुख जो बदले, आदमी के मिजाज का रुख तो बदलता नहीं। जीवन का वातावरण बदलता है, मन का वातावरण नहीं बदलता। आज भी ईश्वर का स्वरूप वही है—किसी के लिए रस-सिंचन, किसी के लिए तत्त्व-चिंतन। आज भी नारी की प्रतिमा वही है—किसी की मदिरा, किसी की प्रेरणा और जीवन-दर्शन की जटिलता चाहे जो बढ़ी हो, उसकी दिशा और परम्परा तो बदली नहीं। वह देशगत और काल-गत सीमा से घिरी नहीं है। वही आँसू और हास है, वही राग-विराग और वही आस-प्यास।···

× × ×

बस, अब तो स्मृति का मंथन ही एक अपना मनोरंजन है आज। इस मंथन

से गरल निकले या रस-कलश—जाने मेरी लेखनी ।

दिल के बहलाने की सूरत जब नजर आती नहीं,
भूलनेवाले को अपने याद कर लेता हूँ मैं ।
मैं तसव्वुर में बसा लेता हूँ एक दुनिया नई,
दिल के वीराने को यों आबाद कर लेता हूँ मैं ।"

संस्मरणों में लेखक ने विधाओं के बँधे-मधे स्वरूप को नकारा है। कभी-कभी तो लम्बी कहानी और उपन्यासों तक पहुँच गये हैं ये संस्मरण। कभी-कभी जीवनी का स्वरूप ले लेते है।

इस क्रम में दो महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं—मौलवी साहब और देवी बाबा। दोनों लेखक के पिता राजा राजराजेश्वरी प्रसाद सिंह (प्यारे कवि) के दरबार के दरबारी। मौलवी साहब लेखक को बचपन में उर्दू और फ़ारसी पढ़ाते थे। उनके जीवन की जीती-जागती तस्वीर खीचने के बाद जब उनके देहावसान का ज़िक्र आता है तो लेखक कहता है—

"मौलवी साहब की तो कहीं भी कोई जगह न थी। सीधे-सादे मिटपिटाये आदमी थे—पुरानी रोशनी के परस्त, कुछ अजब खब्त, सिड़ी से दिखते रहे। जब तक वे जीते रहे, न दुनिया ने उनको जाना, न उन्होंने किसी को जानने दिया। हाँ, एकाध जो जानकार हैं, उनका दिल जानता है कि वे छोटे रहकर भी कभी खोटे न थे, कुदरत ने उनके चेहरे पर स्याही जो पोत रखी हो, उनका दिल काला न था, राम और रहमान के दरम्यान उनकी नजरों में कभी कोई व्यवधान न रहा, देहबुद्धि से कहीं अधिक उनकी नस-नस में आत्मबुद्धि की भावना रही, रोज़ा और नमाज की पाबन्दी रखकर भी मजहब की कट्टरता की सड़ाँध में कभी धँसे नहीं, ताजिया और महावीरी झंडे को एक ही उबाल के दो बुलबुले समझते रहे, किसी की आँख के आँसू न उठा पाये तो एक नन्हें कीड़े पर भी पैर नहीं रखा, इस देहाती दुनिया की नज़र में वे बस न सके तो किसी की नज़र से लुढ़ककर गिरे भी नहीं, और काश कहीं पर रोशनी बनकर नहीं चमके तो कहीं किसी के सर पर बादल बनकर भी नहीं छाये।"

एक अदना आदमी को जिस तरह लेखक ने याद किया है वह सहृदयता के साथ-साथ खरे मूल्यांकन का भी उदाहरण है। छोटी-छोटी घटनाएँ हैं मौलवी साहब के जीवन की। सीधी-सरल प्रतिक्रिया है मौलवी साहब की।

देवी बाबा का ज़िक्र लेखक के पिता के दरबारियों के सिलसिले में आ चुका है। इन सारे संस्मरणों में लेखक ने अतीत को प्यार भरे पुलक से दुलराया है, सहलाया है। पिता की मृत्यु के बाद जो कुछ झेलना पड़ा होगा उसकी कड़ुवाहट कहीं देखने को नहीं मिलती। हमेशा फूलों को याद किया और काँटों को भुला

दिया। सामान्यतः अतीत को इसी तरह याद किया गया है साहित्य में। जहाँ ऐतिहासिक तथ्य आड़े आते हैं वहाँ एक खलनायक की अवतारणा कर सारा दोष उसके सर मढ़ दिया जाता है। राधिकारमण को किसी खलनायक की ज़रूरत नहीं पड़ी। कुछ मानवीय प्रवृत्तियों को ही यह भूमिका दे रखी है उन्होंने अपनी कृतियों में। व्यक्ति को हमेशा सहानुभूति का पात्र ही बनाया है। कथा-साहित्य में शिल्प की यह विलक्षणता राधिकारमण प्रसाद सिंह की अलग पहचान बनाती है। यह सही है कि प्रवृत्तियों को ऐसी भूमिका प्रदान करने के प्रयास में विश्लेषण और निदान का संकेत करते समय एक प्रकार का बिखराव आ जाता है। लेकिन जब हम पाते हैं बुरे-से-बुरे व्यक्ति के प्रति भी असीम करुणा और सहृदयता तो कथा-सूत्र को आगे बढ़ाने के क्रम में लेखक के उपर्युक्त प्रयास की अनिवार्यता स्पष्ट हो जाती है और लेखक के शिल्प से प्रभावित हुए बिना नहीं रहा जा सकता।

लेखक के हास्य-व्यंग्य का भी अपना दृष्टिकोण है। गोरी के गाल पर काले तिल-सा यह कभी नहीं चमकता। फूलों की खुशबू की तरह यत्र-तत्र-सर्वत्र फैला रहता है। हम देख चुके हैं कि देवी बाबा ने पगड़ पहनकर किस तरह गाँव के निरक्षर लोगों की शादी कराई। हास्य का दूसरा नमूना है 'राम-रहीम' से। बेला पर उसके गुरु महाराज (पण्डित जी) ही आसक्त हो उठते हैं। गुरु-दक्षिणा के रूप में अंग स्पर्श की याचना करते समय वह गीता के श्लोक पढ़ते हैं। बेला को विश्वास दिलाते हैं—मैं तो कुछ करता नहीं। आत्मा तो अकर्त्ता है, प्रकृति कर रही है! इसके लिए मैं ज़िम्मेवार नहीं—

> "प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः
> अहंकार विमूढ़ात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते।"

बेला इस झाँसे में नहीं आती और पण्डित जी को धक्का देकर निकल जाती है। पण्डित जी किवाड़ से धक्के खाकर जमीन पर लम्बे हो जाते हैं। ठीक उसी पल पण्डित जी की पत्नी अपनी सखी-सहेलियों के साथ झूम-झूमकर झूमर गाती हुई ड्योढ़ी में दाखिल होती है—

> गोरी की सेजरिया जनि जैहो मोरे सामी।
> उतरि जैहें तोरे मुँहवाँ के पानी ।। उतरि० ।।

प्रणय-याचना के लिए गीता के श्लोकों का प्रयोग तथा फ़र्श पर पड़े पण्डित जी और उनकी पत्नी का यह झूमर कोरा हास्य नहीं है। इसके साथ और भी बहुत कुछ मिला है।

इसी तरह वेश्या के कोठे पर शराब के नशे में चूर बनारस के पण्डे का बेटा सुरेश गा-गाकर अपनी कृति सुनाता है—

"हरि का प्रसाद कटलेट, मोहन का भोग अमलेट,
पंडों के मुख में अंडे, भारत में तू जगा दे।
गोकुल के कुंजवन में, नन्दन महल चमन में,
तीरथ में मंदिरों में महिमा मुरग जगा दे।"

हास्य का एक और तेवर 'सावनी समाँ' से—

"···सब झूमने लगते। कोई 'मीने की मुनादी देत झूमत है बदरिया' गाता, कोई कुछ और मजमून बाँधता। घंटों यही समाँ बँधा रहता। गोपाल बाबू पैर में घुँघरू बाँधते, मीर साहब कमर में तबला, बोतलों के काग फटा-फट उड़ते रहते। दुलारी (वेश्या) के नीमास्तीन के बटन टूट-टूट पड़ते।

गोपाल बाबू इन रसीलों के रसाले के सिपहसालार थे। तखल्लुस था 'नटवर गोपाल'। प्यार का नाम 'कप्तान'—दिलेर और दबंग।

नायब कप्तान मीर साहब थे। आपकी खसखसी दाढ़ी भी थी। रोज़े-नमाज की पाबन्दी भी। मगर थे दिलफेंक, दिलदार—पीने-पिलाने के शौक़ीन। और यह नाज़ था कि दामन निचोड़ दूँ तो फ़रिश्ते वज़ू करें।"

लेखक ने हास्य का कहीं भी कोरा प्रयोग नहीं किया है। कभी तो यह स्थिति-जन्य हास्य है और कभी भाषा के विलक्षण प्रयोग से उत्पन्न मधुर बयार। नाम गोपाल बाबू, काम शराब पीकर वेश्या के सामने पैरों में घुँघरू बाँधकर नाचना, तखल्लुस 'नटवर गोपाल' और प्यार का नाम कप्तान। ठठाकर हँसने की इच्छा नहीं होती लेकिन मन्द मुस्कान को भी रोका नहीं जा सकता। दरअसल राधिका-रमण ने कभी भी कोरे चटक रंगों का प्रयोग नहीं किया, उद्दाम अभिव्यक्ति पर कड़ा अंकुश रखा। जिन्दगी-भर पान और तम्बाकू खाते रहे पर जर्दे में कूटा बादाम भी मिलाया करते ताकि कम-से-कम नुकसान हो। यही नुस्खा उन्होंने अपनी अभि-व्यक्ति पर भी लागू कर रखा था।

लेखक ने साहित्य सृजन का क्रम तो कविता से शुरू किया था (बाङ्ला और ब्रजभाषा)। लेकिन बाद में कविता से नाता छूट गया। गद्य में कहीं-कहीं गंध जरूर मिलती है। शैली पर विचार करते समय इसकी चर्चा आयेगी।

साहित्य से लेखक का साक्षात्कार ही हुआ था कविता और नाटक के माध्यम से। कविता छूटी तो नाटक की ओर मुड़ना स्वाभाविक ही था। लेखक मुड़ा भी नाटक की ओर, और पहली कहानी के प्रकाशन के बाद प्रहसन ('नये रिफ़ॉर्मर'-1911) ही सामने आया। लेकिन उसके बाद नाटककार को कहानीकार और उपन्यासकार ने दबोच लिया। कारण स्पष्ट ही है। अभिनेताओं और प्रदर्शन से जुड़े बिना नाटककार पनप नहीं सकता जबकि अन्य विधाएँ व्यक्तिगत चेष्टा की ही अपेक्षा रखती हैं। जीवन के ताने-बाने ने लेखक को इस तरह उलझाया कि

साहित्य से जुड़े रहने का, अपनी अभिव्यक्ति का एकछत्र राज्य कहानीकार और उपन्यासकार को मिल गया (1912-1951)।

लेकिन नाटक का चस्का ऐसा चस्का है जो एक बार लग जाये तो उम्र-भर नहीं छोड़ता, कभी-न-कभी, किसी-न-किसी रूप में उभरता ही है। ग़ौर से देखें तो लेखक के उपन्यासों में भी नाटक के धर्म की सूझ-बूझ और निर्वाह की झाँकी मिलेगी। आज़ादी के बाद नाटकों के मंचन को नयी सुविधाएँ प्राप्त हुईं। हिन्दी क्षेत्र में भी नाटक खेले जाने लगे। मित्रों ने नाटक की सुधि दिलायी और 1953 में दो नाटक आये 'धर्म की धुरी' तथा 'अपना-पराया'। नाटक फिर दब गया और उसकी अंतिम झाँकी मिलती है 1963 में 'नज़र बदली बदल गये नज़ारे' कृति में।

पहली नाट्य कृति (प्रहसन—नये रिफ़ॉर्मर) को विधा की दृष्टि से वह स्थान नहीं दिया जा सकता जो विधा की दृष्टि से पहली कहानी 'कानों में कँगना' ने अपने लिए अर्जित किया।

समाज सुधार की प्रेरणा तो लेखक की सभी कृतियों में बसी है। 'धर्म की धुरी' सीधा-सादा प्रचारात्मक नाटक है। कथानक साम्प्रदायिक दंगों से पीड़ित लोगों को लेकर भारत-विभाजन का काल चित्रित करता है। वैष्णव मठाधीश संतसरन जी गाँधीवादी है। 'ईश्वर अल्लाह तेरो नाम' में विश्वास करते हैं। मठ की जागीर में बसे मुसलमानों को शरण देते हैं। कट्टरवादी हिन्दुओं को समझाते हैं। पाकिस्तान में लुटी हुई शरणार्थियों को भी मठ में जगह देने में नहीं हिचकते। बलात्कार और अत्याचार से पीड़ित कमला जब कहती है—"क्या नहीं गया—मान, लाज, समाज, परिवार सब कुछ। कहीं खड़ी होने की भी जगह है—अपने घर की पौर पर भी? तो संतसरन समझाते है—घर की पौर! अरे हमारे दिल की पौर पर भी जगह है तुम्हारी। आओ, देखो, हमारे मन्दिर का पट खुला है तुम्हारी जैसी हर पीड़ित, हर सताई हुई प्राणी के लिए। समाज की आँख में पानी चाहे न हो पर भगवान की आँख का पानी तो ढलने से रहा।"

धर्म की धुरी को समझने वाले मुसलमान युवक अहमद की हत्या तो होती है पर अन्ततः संतसरन की निष्ठा धर्म की धुरी का विश्वास कट्टरवादियों में भी जमा देती है।

'अपना-पराया' का कथानक बहुत ही उत्तेजक और साहसिक है। एक प्रमुख आर्यसमाजी प्रेमनाथ का पुत्र सुरेश आधुनिक विचारों की युवती रानी से प्यार करता है। दोनों शीघ्र ही विवाह-बंधन में बँधनेवाले हैं। लेकिन रानी के पिता के दोस्त का लड़का यूसुफ़ भी रानी से प्यार करता है। जब उसे रानी और सुरेश के प्यार का पता चलता है तो वह अपना रास्ता निकालने के लिए कमर कस लेता है। अनायास ही मौक़ा सामने आ जाता है। बेला नाम की एक सुन्दरी जिसे गुंडे भगा ले जाते हैं, प्रेमनाथ की कोशिशों से बचाई जाती है। उसकी शादी का सवाल

उठता है। प्रेमनाथ हिन्दू नौजवानों को प्रोत्साहित करता है कि कोई उससे शादी कर ले। बहाने बना-बनाकर सभी किनाराकशी कर लेते हैं। यूसुफ़ के दोस्त ज़फ़र (जोजेफ़) की तानाकशी पर प्रेमनाथ बज़िद हो जाता है। सुरेश अपनी मजबूरी बताता है। तय होता है कि अभी सुरेश ऐलान भर कर दे। बाद में बेला की शादी किसी दूसरे शहर के लड़के से कर दी जायेगी।

यूसुफ़ का काम बन जाता है। इस ऐलान की ख़बर रानी को मिलती है तो वह यूसुफ़ से शादी कर लेती है। समय पाकर रानी को पुत्र होता है जो दरअसल सुरेश का ही बेटा है। उसका नाम है गुलाब। इधर बलात्कारी का पुत्र बेला की कोख से जन्म लेता है। नाम रखा जाता है रनवीर। सुरेश को तो सबकुछ पता है, प्रेमनाथ को भी पता चल जाता है। लेकिन रनवीर पर से प्रेमनाथ की माया-ममता कम नहीं होती। रनवीर के बाद बेला सुरेश की पुत्री मीरा को जन्म देती है।

रानी को बेसहारा बनाकर यूसुफ़ अपनी ऐय्याशी करता फिरता है। रानी अपने बेटे को हिदायत करती है कि वह सुरेश की देख-रेख में आदमी बने। सभी बच्चे जवान होते हैं। पढ़ने में तेज़ रनवीर—प्रथम श्रेणी में मैट्रिक की परीक्षा पास करता है।

एक दिन कुछ गुंडे मीरा को भगा ले जाते हैं। सभी उसकी खोज में जुट पड़ते हैं। रनवीर अपने दोस्त सुलतान के साथ सुराग लेता हुआ एक मकान तक पहुँचता है। अन्दर से मीरा और गुलाब की बातचीत सुनकर दोनों धावा बोल देते हैं। साम्प्रदायिक आग भड़कानेवालों के चक्कर में गुलाब फँस गया है। जब वह मीरा को साथ लेकर बाहर निकलता है तो बताता है कि अपनी बीवी कहकर उसने मीरा को गुंडों से बचाया है। गुंडों ने इसी बात पर उन दोनों को छोड़ा है कि अब वे निकाह कर लें। जब बात बढ़ती है तो गुलाब सीटी बजाता है। कई गुंडे आ जाते हैं। यूसुफ़ ही उनका सरगना है। सुरेश की लाठी खाकर यूसुफ़ भाग जाता है। गुलाब सुरेश पर वार करता है। सुरेश को बचाने में रनबीर बुरी तरह घायल हो जाता है। उसे सँभालते हुए प्रेमनाथ सुरेश से पूछता है—"बेटा, कौन अपना है, कौन पराया—देख लिया तुमने ? लहू-लहू की रट लगाते रहे—क्या माया है यह लहू का रिश्ता।" नाटक की समाप्ति के पहले प्रेमनाथ, जो अच्छी तरह जानता है कि रनबीर एक बलात्कारी का बेटा है, सुरेश का नहीं, रनबीर का घायल सिर सम्हालता हुआ प्रार्थना करता है—"बाबर ने अपने प्यारे बेटे हुमायूँ की जान की भीख माँगी थी अपनी जान देकर। तुमने सुन ली उसकी और दे दी बेटे की जान की भीख। आज मैं माँगता हूँ रनबीर की जान।"

फिर प्रेमनाथ भी मूर्छित हो जाता है। पर्दा गिरता है।

इस कथानक की परिकल्पना और निर्वाह, दोनों में सामाजिक कल्याण की

वही भावना काम कर रही है जो अन्य कृतियों में। लेकिन एक सर्वथा अछूते प्रश्न को उठाकर, घायल रनबीर की जान की भीख उसकी माँ बेला के बदले बूढ़े प्रेमनाथ से मँगवाकर लेखक ने दोहरा वार किया है समाज की बेबुनियाद रूढ़ियों पर, नयी पीढ़ी की अदूरदर्शिता पर। बूढ़े प्रेमनाथ के ऐसे चित्रण में करुणा और ममत्व का ऐसा रंग है जो उसे एक व्यवहारी आदर्शवादिता का रूप देता है। उद्गारों और सलाहों का अंश काट-छाँटकर एक अच्छा रंगमंचीय नाटक तैयार हो सकता है।

आठ बरसों के बाद (1961) लिखा गया नाटक 'नज़र बदली, बदल गये नज़ारे' एक राजनीतिक व्यंग्य है। पहले तो झाँकी है बड़े ज़मींदारों की, उनकी ऐय्याशी की, समाज के ग़रीब तबकों की उपेक्षा की, मुसाहबों की धाँधलेबाज़ी की। आज़ादी के बाद ज़मींदारी गयी। चुनाव हुए और ग़रीब तबके के लोगों को चुनाव के आधार पर कुर्सियाँ मिलीं। पासा पलट गया। वही ठाकुर साहब, दीवान जी, पंडित जी आदि-आदि अब हरिजनों की चाटुकारिता में लगे। कल तक ज़मींदार, जागीरदार की वर्षगाँठ पर एक-से-एक वारांगनाएँ आती थीं। आज लीडर की वर्षगाँठ पर कॉलेज की छात्राएँ आ रही हैं। मिनिस्टर की वर्षगाँठ के अवसर पर नाटक का अन्त होता है एक रँगीले युवक के प्रवेश से जो गले से हारमोनियम बाँधे प्रवेश करता है और गाता है—

नज़रें बदल गयीं तो नज़ारे बदल गये,
जब सुबह हो गयी तो सितारे बदल गये।

इन नाटकों को देखकर लेखक के नाटककार का एकांगी परिचय ही मिलता है। ऐसा लगता है कि कहानी और उपन्यास की राहों में थकथकाकर लेखक क़लम का स्वाद बदलना चाहता है। लगता है कि लेखक से नाटक की विधा का जो परिचय हुआ था वह कुछ इस तरह तिरोहित हो गया था कि उसमें कोंपलें तो फूटीं लेकिन उभार और निखार नहीं आ सका। वरना नाटकीय स्थितियों की पहचान और पकड़ के नमूने उपन्यासों में भरे पड़े हैं। एक ही नमूना काफ़ी होगा। 'पुरुष और नारी' का एक अंश—

"टूटी-सी मड़ैया। फूस की छाजन। भीतर बधरौटे की खाट। अधमैली सिकुड़ी चादर। पुराना फटा-सा तकिया। चादर पर चंद मुरझाए फूल। एक टूटे पंखे की बेंट। कोने में काठ का बड़ा-सा बक्स। उस पर कुछ फीते, कंघी, रोली की डिब्बी और एक फूटा हुआ आरसी। एक ओर चूल्हा-चक्की—कुछ जूठे बर्तन—भुने चने का एक दोना—गन्दी-सी एक बोतल। पान की पीक के छींटों से दीवारें रँगी हुई है। बीड़ी के टुकड़े बिखरे पड़े हैं। खूँटी से लालटेन टँगी है।

अजीत बक्स के एक छोर पर बैठने लगा।

—क्यों, पलंग पर बैठो न !

—तो आज तुम अकेली ही हो ?

—हूँ, बाज़ार ही मन्दा है। उस पर वह छीना-झपटी···

—सो क्यों, रूप का बाज़ार तो सदा गर्म रहता है।

—देहात में पैसा कहाँ है ? पहले पेट तब न लपेट···दूसरे आश्रमवालों का जुल्म—रोड़े अटकाते चलते हैं।

अजीत मुस्कराया। आश्रमवालों का जुल्म। एक ही कही। (वही आश्रम का अधिष्ठाता है)।

—तो तुम गाँधी टोपी पर डोरे नहीं डालतीं ?

—काले कम्बल पर रंग चढ़ाना खेल है ? एकाध कभी भूले-भटके आये भी तो टिकते नहीं। तुम कैसे चू गये ? तुम भी तो···

अजीत ने सोचा—मेरे सर पर भी तो गाँधी टोपी है। मैं भी तो भटककर आ पड़ा हूँ।

—तुम शहर गुलजार करती तो···

—हुँह। शहर में तो सोने की चिड़िया रखी है—कंपा लगाया और फाँसा।

—अभी तो चिकनी जवान हो, रंग भी है। जवानी ही की आग में न सोना गलता है।

—रूपा भी गले तो भर पाऊँ। भला तुम भी गलो।

वह पास सरक आयी।

अजीत ने मुँह फेरकर कहा—अलग हटो। ऊँह, तुम पीती भी हो जी !

—न पीऊँ तो जीऊँ कैसे ? पीती हूँ तो दुख भूल जाती हूँ। पेट काटकर पीती हूँ। इसी पानी से तो छाती की भट्ठी बुझती है। पेशा तो पेट के लिए है—प्याला ही न छाती के लिए है।

—सच ? प्याले में वह तासीर है ?

—यही तो गुर है। नही तो दुखिया जी पाता ?

—क्यों चसका ?

—मेरे साथ तो चसका नहीं, दवा है। पैसे वालों को बोतल का चसका जो हो, ग़रीब की चुक्कड़ उसके दुख की दवा है।

—तो ला अपनी बोतल। देखूँ तो सही—यह कैसी दवा है।

—तुम्हें कौन दुख है ? तुम तो गाँधी के चेला ठहरे।

—हाँ, पर गाँधी का चोला तो नहीं। तुम्हारी ही तरह हाड़-मांस का आदमी हूँ न।

—तो लाऊँ ? पैसे दो।

अजीत ने रुपया बढ़ा दिया। वह बाहर गयी और तुरन्त बोतल लिये लौट आयी।

—गिलास तो नहीं है।

—चुक्कड़ भी नहीं ?

—है तो एक कनकट।

—बस, काफ़ी है। ला।

—कहो, कुछ दिल उभरता है ?

—तेरी सूरत पर ? ला, एक और तो ढाल।

वह ढालने लगी।

अजीत ने पूछा—तेरे पास बीड़े हैं ?

—बीड़ी तो है।

—हाँ, तेरा नाम तो पूछा नहीं !

—नाम है, बिन्दी।

—माँग भी कभी भरी थी ?

—उहूँ, न माँग भरी, न गोद। आज गोद भरी रहती तो मैं इस गली में मरने आती ?

—सो क्यों ?

—आँख में पानी न होता ?

—दत् ! कहीं छाती के दूध से किसी ने छाती के भूत को फुसला रखा है ?

—वह भूत तो कभी चढ़ा ही नहीं बाबू जी। बस, भूख है। पैसेवाली होती तो मैं पेशेवाली का नाम थोड़े ही पाती।''

उपन्यासों में ऐसे अनेक स्थल मिलेंगे जो नाटककार की सूचना देते हैं। नाटकीय परिस्थितियों की ऐसी पकड़ और निर्वाह के बाद नाटकों को पढ़कर अजीब-सा अवसाद छा जाता है। लगता है, लेखक की प्रतिभा की जूठन ही नाटक की विधा को मिली। लेखक ने शरीर का व्यापार करनेवाली एक कमसिन का वर्णन किया है जो उनके नाटकों पर सोलह आने लागू होता है—

> ''कुछ अजब रसीली है—कुछ अजब भोली-भाली। मगर हड्डियों की ठठरी है। बड़ी-बड़ी आँखें धँस गयी हैं। सीने की बुलन्दी चेहरे की पस्ती पर चढ़कर बोलती तो है ज़रूर, पर गाल के गड्ढों से निकल नहीं पाती। लाल तहबन्द पर, फीकी प्याजी साड़ी उसकी मस्त चोली पर खुलती तो ज़रूर है, पर उस खोखली ठठरी पर रंग नहीं लाती।''

भाषा और शैली

यह बताया ही जा चुका है कि राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह का कई भाषाओं पर लेखक का अधिकार था। सामान्य जनजीवन से जुड़े रहने के कारण देशज शब्दों और मुहावरों का सामर्थ्य भी अजाना नहीं था। स्मरण शक्ति अद्भुत थी। हजारों श्लोक, दोहे, सवैये, कविता और अशआर कंठाग्र थे। साहित्य से प्रथम परिचय कविता और नाटक के माध्यम से हुआ था। इसलिए शब्दों और वाक्य-विन्यास के उच्चरित रूप के प्रति सजगता सहज ही प्राप्त हो गयी थी। संगीतज्ञ तो नहीं थे लेकिन राजघराने में जन्म लेने के कारण संगीत की विशिष्ट अभिव्यक्ति भी अजानी नहीं थी। राधिकारमण प्रसाद सिंह ने अपने गद्य में इन सभी मसालों का विलक्षण प्रयोग किया है। उनकी शैली निराली और अनूठी है जिसे सभी ने स्वीकारा है, सराहा है। आज हिन्दी गद्य के प्रमुख शैलीकारों में लेखक का नाम आदर से लिया जाता है।

जिस शैली के प्रथम दर्शन 'कानों में कँगना' में मिले थे उसमें, लेखक की साठ वर्षों की कथा-यात्रा मे, निरन्तर निखार आता गया। यह शैली कभी लचीली तलवार की तरह बल खाती हुई एक ही वार में अपना काम कर जाती है तो कभी आस्तीन में छिपे खंजर की तरह घात करती है और हमें पता भी नहीं चलता। कभी कोमल तरुणी की बाँहों की तरह गले से लिपट जाती है तो कभी दोस्त की तरह कानों में कुछ सलाह दे जाती है या बिगड़ैल अभिभावक की तरह दो-चार खरी-खोटी सुना जाती है। जगह-जगह पर अशआरों, श्लोकों और गीतों का प्रयोग किसी माशूक की अदाओं की तरह तड़पा जाता है, रससिक्त कर देता है, आप्लावित कर देता है।

लेखक की शैली पर बहुत कुछ लिखा गया है। एक अन्य प्रमुख शैलीकार (स्व.) रामवृक्ष बेनीपुरी के सम्बन्ध में (स्व.) मैथिलीशरण गुप्त ने लिखा था—आपके हाथ में क़लम है या जादू की छड़ी। इस उक्ति को राधिकारमण प्रसाद सिंह पर भी लागू किया गया है और ठीक किया गया है। लेखक की शैली पर सबसे अच्छा विवेचन प्रस्तुत किया है कविवर दिनकर ने—

"नये लेखक के जीवन की सबसे बड़ी खोज उस लेखक का पता लगाना होता है जिसके समान वह बनना चाहता है। स्पष्ट ही राजा साहब (राधिका रमण प्रसाद सिंह) के लिए यह आदर्श रवीन्द्रनाथ रहे होंगे और इसीलिए राजा साहब ने अपनी आरम्भिक रचनाओं में बंग देश की गौड़ी रीति का अनुसरण किया।"

× × ×

राजा साहब की पुस्तकों में 'राम-रहीम' का बड़ा नाम है। कहते हैं, यह पुस्तक उन्होंने डॉक्टर सच्चिदानन्द सिंह की चुनौती स्वीकार करके शुरू की थी और वे उसे 'वैनिटी फ़ेयर' के जोड़ का बनाना चाहते थे। जब राजा साहब इस उपन्यास के लिए समय निकालने लगे तब उन्होंने गाँधी जी से कहा कि मुझे 'राम-रहीम' नामक बड़ा उपन्यास लिखना है, इसलिए मुझे हरिजन-सेवक-संघ के काम से छुट्टी दीजिये। गाँधी जी ने कहा—छुट्टी इस शर्त पर कि 'राम-रहीम' की भाषा हिन्दुस्तानी हो। राजा साहब ने गाँधी जी की शर्त मान ली।

लेकिन 'राम-रहीम' की भाषा क्या वही हिन्दुस्तानी है, जिसका हिन्दी और उर्दूवालों ने विरोध किया था? मेरा ख्याल है, 'राम-रहीम' की भाषा बोलचाल की भाषा नहीं है, वह साहित्य की भाषा है, जो विधिपूर्वक सँवारी गयी है, सजायी गयी है और जिसके भीतर अदृश्य रूप से (बंगाल की) गौड़ी रीति अपना काम करती है।

× × ×

राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह हिन्दी के अद्‌भुत लेखक और विलक्षण शैलीकार थे। स्वभावोक्ति की शैली में वे लिखते ही नहीं थे। उनकी प्रत्येक रचना में वक्रोक्ति होती थी, सजावट होती थी और एक तरह का बाँकपन होता था जो बता देता था कि यह भाषा बोलचाल की नहीं, साहित्य की है। 'नवजीवन', 'तरंग' और 'कुसुमांजलि' राजा साहब की ये तीन पुस्तकें ऐसी हैं, जिनमें बाङ्ला की तत्समता की भरमार है, किन्तु उनकी बाद की रचनाओं—'राम-रहीम', 'सूरदास', 'गाँधी टोपी', 'पुरुष और नारी' तथा 'जानी-सुनी-देखी' आदि में हम एक ऐसी भाषा का स्वाद पाते हैं जिसमें संस्कृत और फ़ारसी, दोनों ही भाषाओं का मिला-जुला रस है। लेकिन वक्रोक्ति की छाप उनकी सभी कृतियों की भाषा पर है। फ़र्क़ यह है कि 'नवजीवन', 'तरंग' और 'कुसुमांजलि' की सारी पच्चीकारी संस्कृत के बल पर की गयी है, लेकिन बाद की रचनाओं में संस्कृत और फ़ारसी, दोनों ही भंडार से रत्न लिये गये हैं। इन दो प्रकार की भाषाओं पर राजा साहब का

कैसे अधिकार हुआ, इसका रहस्य हम उनकी शिक्षा-दीक्षा और संगति में ढूँढ़ सकते हैं।

× × ×

राजा साहब अनेक भाषाओं के पंडित थे। उन्होंने तरह-तरह की शैलियों का आनन्द लिया था और भाँति-भाँति के कलाकारों की रचनाएँ पढ़ी थीं। इसलिए उनके आर्केस्ट्रा से एक नयी तान निकल सकी, एक नयी शैली फूट सकी। उनकी शैली गाँधी जी को खुश करने की कोशिश से नहीं जनमी थी, बल्कि उसका जन्म राजा साहब की शिक्षा-दीक्षा और अत्यन्त व्यापक कलात्मक संस्कार से हुआ था।"

वक्रोक्ति की जब बात आती है तो एक तथ्य बारबार कौंध जाता है। ऐतिहासिक या पौराणिक कथानकों के सहारे वर्तमान की समस्याओं पर प्रकाश डालने की विधि सभी भाषाओं के साहित्य में जानी-मानी है। राधिकारमण ने एक कहानी के अलावा, अपने सम्पूर्ण साहित्य में यह रास्ता नहीं अपनाया। यह ध्यान रहे कि अपनी किशोरावस्था में राधिकारमण द्विजेन्द्र लाल राय के बाङ्ला नाटकों से बहुत प्रभावित थे। श्री राय ने यही शैली अपनायी थी।

दिनकर जी ने लेखक की शैली पर जो कुछ लिखा है उसमें एक बात जोड़ देना ज़रूरी है और वह है देशज शब्दों और स्थानीय मुहावरों का सशक्त उपयोग। संस्कृत या फ़ारसी पर बल देकर यह करिश्मा हो पाता—

"बिदेसी अपनी भाभी के नैहर आया है। भाभी की छोटी बहन मिसरी से प्रथम दर्शन में ही प्रेम की नींव पड़ चुकी है। सारा इलाक़ा पानी के लिए तरस रहा है। बादल घिरे तो हैं।

बिदेसी—दम धरो, आज तुम्हारे खेतों की मेंड फूट कर न बही तो बिदेसी नाम नहीं।

तभी कोठे पर से एक तीखी सुरीली-सी आवाज़ आयी—दीदी, पांडे की पींड पर करैता ठनक रहा है, आज पानी बरसेगा।

और जब टपटप बूँदों की झड़ी लग गयी—बात-की-बात में झमक पड़ी, पानी लहराने लगा तो किसी के सुरीले गले की लहर उमड़ पड़ी—बूँदा रिमझिम बरसे घनाझारी।"

यह स्थानीय मुहावरा ही है जिसमें बिजली की कड़क और चमक करैत साँप की ठनक बन जाती है। प्रेम के पुलक भरे प्रथम सिहरन की यह ऐसी अभिव्यक्ति है जो लोहार के हथौड़े की तरह पड़ती है। बूँदें (रस की बूँदें) 'घनाझारी' बरसने लगती हैं।

शब्द चयन तो एक पहलू है शैली का। लेखक का कमाल है कभी शब्दों को इस तरह आमने-सामने रखना कि एक नये आयाम की सृष्टि हो जाती है। एक

किशोरी का वर्णन है—

"तो क्या आज भी वह क्वाँरी ही है—किसी के होठों के रस में घुली नहीं ? बेशक क्वाँरी है। उसके गले की मीठी लोच तो यही पता देती है। कितना सुकुमार, साफ़, मीठा, हल्का गला है। न भारीपन है, न बाँकपन। कंठ फूटा नहीं है। हाँ, मगर अंगों पर कोपलें तो फूट चुकी होंगी। छाती भरी न भी हो, उभरी तो ज़रूर होगी। अंगों पर लुनाई न हो, चिकनाई तो ज़रूर होगी। होठों में मद न हो, मधु तो ज़रूर भर चुका होगा। आँखों में बिजलियाँ न भी हों, कनखियाँ तो खेल चुकी होंगी। शोखी न भी हो, शर्म तो उभर ही चुकी होगी। प्राणों में हवस न भी हो, रस तो उतर चुका होगा। चेष्टा में विलास न भी हो, मिठास तो ज़रूर होगी। गले में कला की बारीकी न भी हो, मिसरी तो ज़रूर घुली होगी। गति में मौज न भी हो, पर ओज तो ज़रूर होगा।"

एक विधवा का चित्रण यों हुआ है—

"उस मुहल्ले में बिरादरी की एक ग़रीब विधवा थी—अभाव से भरी, स्वभाव से हरी, कामना-सी चंचल, वेदना-सी विकल··· जिन्दगी सूनी थी, जवानी भरी थी।"

शरीर का व्यापार करनेवाली की बेबसी इस तरह आँकी गयी है—

"हम जानते हैं—क्या वकील-मोख्तार, क्या सेठ-साहूकार, क्या हकीम-डॉक्टर और क्या पंडा-पुरोहित—जब वह अपनी दुकान पर बैठता है तब वह और है और जब घर की पौर पर बैठता है तब और। वहाँ रोज़गार का निबाह है, यहाँ प्यार का। उधर जो खोया, इधर पाया। मगर कोई क्या कहे, उस बदनसीब की बेबसी की जिसे दुकान-ही-दुकान है आठों पहर—घर नहीं, और उस दुकान की आमदनी में अपना कोई हाथ नहीं। बस, दिल खोल और जान पर खेल, अपनी खाल खींच-खींच बेचते चलो—क्या दर और क्या ज़र—जाने दुकान मालिक।"

उच्छृंखलता की पुतली 'बिजली' की तबीयत का एक नमूना यों है—

"रंग में फिरोजी, फूल में 'पैंसी', खुशबू में कस्तूरी, खाने में कश्मीरी, मर्दाना लिबास में मिलिटरी और जनाना लिबास में पारसी साड़ी—उसको विशेष प्रिय थी।"

एक और चित्रण जो रंगमंच पर किसी भी अभिनेत्री के लिए बड़ी चुनौती बन सकता है—

"तभी देखा कि मिसरी झिझक रही है—भवें तान रही है तो क्या, उसके चेहरे पर रस और उमंग के आँकड़े साफ़ हैं। काली लटों का एक गुच्छा थिरक रहा है गुलाबी गाल पर और भर आयीं हैं आँखों में मासूम शरारत

की हिलोरें थी। हाय-हाय ! न हुआ उस वक़्त मेरे हाथ छोटा-सा कैमरा, नहीं तो फ़ोटो उतार कर रख लेता—शर्म और शोखी में पगी जवानी के उस जलूस का।"

लेखक की पकड़ और असाधारण शैली ने प्रकृति वर्णन द्वारा किस तरह नाटकीय वातावरण पैदा किया है इसका नमूना सावन के इन तीन वर्णनों से मिलता है—

"दिन के दस बजे होंगे। आकाश पर बादलों की काली लटें छायी हुई हैं। पृथ्वी पर सावनी संगीत का सुर शुरू है—झम-झम-झम-झम। यही वर्षा की अनन्त छन्द-लहरी है—प्रकृति के चंचल चरणों की नूपुर-ध्वनि। अजस्र सुर निर्झर—कभी कोमल, कभी शुद्ध गांधार। प्रकृति का हरा-भरा आँचल विविध वेल-बूटों मे लहालोट है। नवजीवन का प्राण हिल्लोल तमाम विश्व में फैल चुका है। जर्रे-ज़र्रे पर हरियाली छा रही है। ऐसे में भला किस दिल के कोंपल नहीं उठती।

× × ×

कल रात से सावन की धारा हहास बाँधकर आयी और अविराम बरसती रही। निशीथ के अँधेरे में वह दृष्टि-प्रपात की झम-झम बिजली (नायिका) के संतप्त प्राणों पर क़ैदी की ज़ंजीरों की झम-झम-सी बजती रही।

× × ×

हवा चलती नहीं, सिसकती है। बूँदें बरसती नहीं, रोती हैं। बादल गरजते नहीं, चीख़ते हैं। बिजली चमकती नहीं, तड़पती है। बादल तो उठते हैं, हौसले नहीं उठते।"

लेखक ने उर्दू और फ़ारसी के अशआरों का धड़ल्ले से प्रयोग किया है। संस्कृत के श्लोकों और लोकगीतों के इस्तेमाल भी लासानी हुए हैं। इनका नमूना पेश किया जा चुका है। अशआरों की गिनती करायी जाये या उन्हें चुनकर रख दिया जाये तो बात नहीं बनेगी। दरअसल अशआरों के सृजन का श्रेय तो शायरों को जाता है। राधिकारमण की शैली का कमाल है उनका उपयोग, कब और किस तरह किया जाय। जो अशआर किसी शो-केस में काले मखमल पर जवाहरातों की तरह चमकते वे राधिकारमण की शैली की कारीगरी से किसी आभूषण में जड़े रत्न की तरह चमत्कृत कर देते हैं। आभूषण से अलग शो-केस में उनका मज़ा और है, आभूषण में जड़े जाने पर कुछ और। कुछ नमूने—

"लेखक और वजाहत साहब कश्मीर में हिन्दू धर्म और इस्लाम की मूल आस्थाओं पर सहमत हैं। सहज हास-परिहास में बाजी ठनती है। एक की

जुबान पर अल्लाह या रहीम की जगह राम का नाम उठ आया तो बस मँगाइये किसी तमाशे के दो टिकट और उधर दूसरे की जुबान पर भूलकर अल्लाह आ गया तो चखाइए कोई कश्मीर की नेमत।"

× × ×

"मगर यह हारजीत का तमाशा तो खैर, सिन या तबीयत का तकाज़ा ठहरा। सौ बात की एक बात तो यह थी कि उस 'अविभक्त विभक्तेषु' का आभास दिल की आँखों पर खुल गया और लगा जैसे कि किसी तंग गली के अँधेरे से निकल कर चौड़े रास्ते के उजाले में आ गये हम।

सौ बार तेरा दामन हाथों में मेरे आया।
जब आँख खुली, देखा अपना ही गरेबाँ है।।"

आज़ादी के बाद रईसों और जमींदारों की जीती-जागती तस्वीर—

"गाँधी की आँधी के आते ही तो रंग-भेद का वह किला ताश के घर की तरह ढह गया जैसे। जभी तो वह तनाव—वह कमान उतर गया और मोरों की पाँत में बग़ैर पर बदले भी पर मारने की सुविधा हो गयी, मगर बरसों का बंद पंछी पिंजरे का दरवाज़ा खुला पाकर भी कहीं पंख फड़फड़ा कर रह गया···तो?

खोला कफ़स पर ताक़ते परवाज़ ही नहीं,
बुलबुल, तेरे नसीब को सैयाद क्या करे।"

दूसरा नमूना देखिये—

"सूरदास की गिनती कभी सभ्यों में नहीं होने की। मगर दिखाये तो कोई आज का प्रगतिशील सभ्य उस गँवार की निष्ठा? वह धूल में लुंठित है तो क्या, उसके दामन की तह में एक जलवा छिपा है—

आलूद: खाक ही में रहने दे इसको नासिह
दामन अगर झटक दूँ, जलवे कहाँ समाएँ।"

राधिकारमण प्रसाद सिंह की शैली में सितार के बजने का-सा अन्दाज़ है। बाज का तार तो बोलता ही है। तरब के तार भी बोलते हैं। और जब बाज के तार से मिजराब अलग हो जाता है तब भी सुरों के उतार-चढ़ाव का अन्दाज़ और अनुगूंज दिलो-दिमाग़ पर हावी रहती है।

स्थिति का मूड निखारने के लिए प्रकृति-वर्णन का कैसा उपयोग किया गया है, हम देख चुके हैं।

नायिकाओं के वर्णन में अजीब लचक है, एक ऐसा कोमल निखार जो सम्मोहित कर लेता है। 'राम-रहीम' में बेला और बिजली पूरब और पश्चिम का प्रतीक है। दोनों के वर्णन आमने-सामने रखकर देखिये—

"बेला बेला ही बनी रही। बेला-सी कोमल, बेला-सी विमल। शरद के हास-सी मीठी, रसाल की कोंपल-सी चिकनी, बालक के हृदय-सी निर्मल, आरती की शिखा-सी उज्ज्वल, विधवा की मुस्कान-सी करुण, सती की छाती-सी कठिन, नववधू की लज्जा-सी मधुर, ऊषा के तुषार-सी सुन्दर।

"बिजली भी बिजली बनी रही। बिजली-सी चपल, बिजली-सी प्रबल। अंगूरी की झाक-सी तीखी, नदी की बाढ़-सी भूखी, कामिनी के कटाक्ष-सी चुटीली, नृत्य की छंद-लहरी-सी रसीली, पाजेब की झनकार-सी मत्त, यौवन की वासना-सी मस्त, मन के स्वभाव-सी चंचल, कामिनी के कल्लोल-सी विकल, सावन के समीर-सी आतुर, कामिनी के सुहाग-सी मुखर।"

लेखक की निराली शैली से विस्मत-विमुग्ध होकर बहुतों ने उन्हें शब्द-शिल्प का सम्राट कहा है। हर शब्द खरादा हुआ, नगीने की तरह जड़ा हुआ, हर वाक्य शिल्प कला का नमूना। जाने-पहचाने शब्द नयी आभा से जगमग। कुछ नमूने—

"कामना तो बूढ़ी हुई नहीं, उनकी कामिनी बूढ़ी हो गयी।"

"शीन और काफ़ तो दुरुस्त न हुआ, मगर लामकाफ़ काफ़ी आ गया है।"

"जहाँ आँसू के मोती बेकार हो गये थे, वहाँ मुस्कान के मोती कारगर हो गये।"

"शराब पी लेने पर कोई बात नहीं पी सकता।"

"जब होंठों के भीतर मोती के दाने नहीं रहे, तो फिर मोती की झुलनी क्या रंग लाये?"

"ताज का नक्शा बदलता है, ताज का नशा नहीं बदलता।"

जब क़लम मुड़ी तो चमक की कैसी गुलकारी चमक उठी—

"बीते हुए कल को न देखकर आनेवाले कल को देखो, नहीं तो आज की विकलता तुम्हें कल न आने देगी।"

"जब तक उसमें गुलाब का रंग था, तब तक उस घर में उसका रंग जमा रहा। अब तो उसमें न रंग ही रहा, न रंग भरने की जरूरत ही रही। राय साहब ने रंग बदला तो उसने ज़माने का रंग समझा।

"जब यौवन उसके वदन पर रंग भरकर उसके मन पर भी रंग भरने लगा, फिर तो रंग की तरंग में वह रंगीन हो उठी।

"गुलाबी आ रही है हौले-हौले और गुलाबी के गालों पर एक गुलाबी आ रही है हौले-हौले।"

उपमाओं की रंगसाजी में भी लेखक को कमाल हासिल है। कभी छोटी, कभी बड़ी लेकिन हर जगह बेमिसाल—

"नवम्बर आने से पहले मसूरी से घर लौटना तो इंटरवल में सिनेमा हाल से बाहर आना है।"

"बिजली ने लोफ का काश मुँह में डाला और गिलहरी-सी कुतरने लगी।"

"बिजली के पंखे जलते तवे पर हल्की फुहार की तरह छन्न कर रह जाते।"

"एक पल में मिसरी उसके सारे दिल की उमस को यों उड़ा ले गयी जैसे बर-साती गर्मी को पुरवैया का लहरा।"

"नवाबों का प्यार तो दूध का उबाल ठहरा, उठा और गिरा।"

"देशी महिलाएँ तो देशी बोतलों की तरह उनकी तबीयत से उतर गयीं।"

"हरी साड़ी में लाल चोली मालती लता में कुसुम सुषमा-सी खिल रही थी।"

"पार्टी में वह फूल-सी खिली, फूलों में भी गुलाब का, गुलाबों में भी बसरे का गुलाब।"

"आकाश में तारों को देखा या उन जगमग आँखों को देखा, बात एक ही है।"

"परकटी कबूतरी के सामने बाज है; घेरे में पड़ी हरिणी के सामने बाघ है, बेला के सामने दिनेश है।"

रूपकों की निराली छटा बरबस मन मोह लेती है—

"आपके मिजाज में मक्खन भी काफ़ी था, मगर जब तक ख़ुशामद की मथनी न होती तब तक नमूदार न होता।"

"उनका मिजाज बिल्कुल बरसाती आसमान है, कब घटा घिर आयेगी, कब साफ़ होगा, कब फट पड़ेगा, कब बिजली कड़केगी, किसी को पता नहीं।"

"दाल की मंडी कभी व्रज की वीथी नहीं होगी, वह काँटों से भरी गुलाब की क्यारी है, कुछ तुलसी की वेदी नहीं। गये और दामन उलझा, लौटे लहूलुहान होकर।

"नारी में तो मातदिली है नहीं। वह आग है या बर्फ़। शोला है या शबनम। पीयूष है या विष। राग है तो फिर जान दे देगी, विराग है तो फिर जान ले लेगी।

"माँ के दुलार में मधु की मिठास है, बाप के प्यार में कुनैन की कड़वाहट। पत्नी के प्रेम में बोतल के नशे का सरूर है, भाई के स्नेह में शासन का गरूर। मगर बहन का स्नेह? वह तो अमृत का मेह है।"

अनुप्रास तो जैसे लेखक का ख़रीदा हुआ गुलाम था। इशारा पाते ही हाजिर हो जाता था। देखिये कुछ नमूने—

"चुलबुला दिल कुलबुला उठा।"

"हम जाहिल ही सही, काहिल तो नहीं।"

"दैव के पाले पड़कर विवेक के लाले पड़ जाते हैं।"

"भगवान जहाँ धन देता है, वहाँ मन नही देता।"

"कल का ठिकाना क्या, पल में जाने क्या हो।"

"जब तक ममता जाती नहीं, समता आती नहीं।"

"वेश्या की छाती में भी दिल है और संन्यासी की छाती में भी सिल।"

"लगता है कि टेनिस के मैदान में जाल के पास खेल हो रहा है और ताबड़-तोड़ शॉट लग रहे हैं—खटा-खट, खटा-खट। 'बेस लाइन' का खेल देखेंगे ?

"अब न तो पति का प्यार रहा, न बच्चों पर अख्तियार, न दुनिया से सरोकार। बस, रह गयी जेवरों की झनकार और आँगन की तुलसी के गाछ के आगे फूल-चन्दन का उपचार"

उक्तियों के चमत्कार से चकित-विस्मित कर देना लेखक के बायें हाथ का खेल है। बानगी देखिये—

"बुखार तो वह थी, बुखार की दवा भी वह थी।"

"यह वह दर्द है जिसकी दवा उसी दर्द की टीस है।"

"बिदेशी मरने के लिए जी गया।"

"वह माशूक ही क्या जिसमें वफ़ा ही नहीं।"

"आँखों से मारती है तो होठों से अपने शिकार को जिला भी देती है।"

"मसूरी की सर्दी तो मिली, वहाँ की गर्मी नहीं मिली।"

"ऊँची एड़ी के जूते ज़मीन नहीं छूते।"

"तुम क्या शराब पियोगे, शराब तो तुम्हें पिये जा रही है।"

"वे इस मद में बाप के भी चचा निकले।"

कितनी चुटीली, कटीली उक्तियाँ हैं जो 'नावक के तीर' की तरह 'गम्भीर घाव' करती हुई लोकोक्तियाँ बन गयी हैं। जैसे—

"खादी के कुरते में भी जेब होती है।"

"लिफ़ाफ़े की रंगीनी बढ़ती गयी, खत का मजमून बिगड़ता गया।"

"चला था तुलसी होने, रह गया कुकुरौंधा।"

"दुकानी पीनेवाले अंगूरी की क़द्र क्या जानें।"

"बेचने को बैगन, कहाने को सेठ।"

"बेटी की बाढ़ बरसात की बाढ़ से कम नहीं होती।"

"ज़ंजीर ज़ंजीर ही है, लोहे की हो या सोने की।"

"कहाँ साँझ का तारा, कहाँ भोर का तारा।"

"वासना का तंदूर कभी ठंडा नहीं होता।"

"बर्रे के डंक से पत्थर नहीं टूटता।"

"भवसागर की जल-तरंगों पर छिद्र होना कब संभव है ?"

"जो मधुमक्खी मधु लुटाती है, वही कभी-कभी डंक भी मार देती है।"

"रामनाम की चादर तो महज धुएँ का बादल है।"

"कोई लाख घी-मसाले दे। सब्जी सब्जी ही रहेगी, वह रोहू की पेटी नहीं होगी।"

जब व्यंग्य का गरम मसाला पड़ जाता है तो उक्तियाँ एक साथ चटपटी और तीखी हो जाती हैं—

"औरतों के दिल की कुंजी तो मर्दों की जेब में है।"

"जब इन्द्रियों की सत्ता शिथिल होने लगती है, तभी इन्द्रिय दमन का प्रश्न उठता है। जब तक हाजमे के दायरे में पिस्ते की बर्फियाँ खपती रहेंगी तब तक सागू और पपीते की उपयोगिता नहीं सूझती।"

"काम के कीटाणु कुछ ऐसे कठजीव हैं कि संन्यास का हजार इंजेक्शन देने पर भी जल्द नेस्तनाबूद नहीं होते।"

"उठती जवानी जहाँ क़दम रखने में सिहरती-सहमती है, उतरती जवानी वहाँ मुँहबाये टूट कर जाती है।"

"जवान फिसलकर गिरता भी है तो दामन झाड़कर खड़ा हो जाता है और अधेड़ गिरता है तो कमर टूट जाती है।"

"गीता और गायत्री के जप पर भगाया हुआ जवानी का भूत बुढ़ापे में लौट कर गर्दन टीपता है।"

"लटकी हुई खाल ज़ेवरों के कुन्दन की दमक, साँप की आँख की चमक-सी डरावनी होती है।"

लेखक की क़लम से सरस उक्तियाँ इस तरह उभरकर आयी हैं जैसे आकाश में तारे। गिनना-गिनाना असम्भव-सा है। फिर भी थोड़े-से नमूने—

"प्रियतमा के मुख की दिलासाभरी वाणी से बढ़कर पुरुष के जीवन में दूसरी मृतसंजीवनी नहीं।"

"रस का प्यासा भौंरा कुछ तुलसी की डाल की ओर नहीं झुकता।"

"अकर्मण्यता और आध्यात्मिकता की फेंटी हुई फुलौड़ियाँ ग्राम्य-जीवन के कड़ाह में छनती हैं।"

"नैराश्य की भित्ति पर ही तो संन्यास की इमारत खड़ी होती है।"

"वल्कल की चादर पर कमखाब की पट्टी नहीं पड़ती, न कोपीन की कोर पर कलाबत्तू का काम मुमकिन है।"

"जब तक चाँदी की चाँदनी न हो तब तक शान की कुमुदिनी कहाँ खिलती है?"

"चुग़ली तो वह चिड़िया है जो बेपर की भी उड़ पाती है।"

"तारीफ़ तो वह तवायफ़ है कि बड़े-बड़ों को भी अपने शीशे में उतार ले पल में।"

"पसीने से जो रोटी रोगनी होती है उसकी मिठास को अमीर के दस्तरखान

का शीरमाल कहाँ तक पाएगा ?"

"बेपसीने की कमाई से तर माल से बढ़कर इस जीवन में दूसरा मीठा ज़हर नहीं।"

"अगर पसीने के सिंचाई न हुई तो फिर जवानी की किसी फ़सल में हरियाली आने से रही।"

"किसी बेकस की जवानी तो तीसरे पहर की चाँदनी ठहरी, कब आयी, कब गयी—पता नहीं।"

"साक़ी की सुराही बदलती है, सुराही की अंगूरी बदलती है, अंगूरी की मस्ती नहीं बदलती।"

"सेवा की योजनाएँ बदलती है, लीडरी की प्रेरणाएँ नहीं बदलतीं।"

"मसनद की दिशा बदलती है, मसनद का नशा नहीं बदलता।"

"लाभ के बाज़ार बदलते हैं, लोभ का बाजार नहीं बदलता।"

"हमारी आँखों से पलकें छीन न लें···।"

"आँख का पानी ही न रहा, तो फिर गंगा का पानी क्या तार पाएगा ?"

"दूसरे पर फेंकी हुई कालिख अक्सर अपने ही मुँह पर आकर चिपट जाती है देर-सवेर।"

"कवि की प्रतिभा अगर करताली की सस्ती सुराही की चाट पर ढली-की-ढली रह गयी, तो फिर अमृत का प्याला ढाल नहीं पाती।"

"वह लेखनी भी क्या जो जमाने की नब्ज़ पर उँगली न हुई।"

"वह प्यार भी क्या जो किसी रूप का आधार—शिकार ही रह गया।"

"दिल की कुंजी तो अपनी अक्ल की जेब में चाहिए।"

आज़ादी के बाद राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह बार-बार कहते थे—राजा तो चला गया अंग्रेजों के जाने के बाद। अब तो लेखक राधिकारमण प्रसाद सिंह है। लेकिन हिन्दी जगत में सभी उन्हें राजा साहब ही कहते। शैलीकारों में राजा तो रहे ही। विभिन्न भाषाओं की जानकारी, कविता और नाटक जैसी विधा से अटूट सम्बन्ध की झाँकी ही मिल सकती है कागज़ों पर मुद्रित उनकी कृतियों से। जिसने उनके भाषण सुने हैं वही जानता है कि भाषण के दौरान अभिनय कला की पकड़ से, न्यास और बल से वह अपने भाषण को कितना सरस बना देते थे, अपने कथ्य को कितने सशक्त और अपने तथ्य को कितने सहज रूप से हृदयग्राही। वह रिकार्डिंग का ज़माना नहीं था इसलिए उसका मज़ा वहाँ जो उपस्थित थे, उन्होंने ही लिया।

चयन

बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन

[बेतिया अधिवेशन-1920]

सभापति के भाषण के कुछ अंश

आज नया जागरण है—नवीन स्पन्दन है। आकाश से बदली फट चली। किरणें छिटकी हैं—हवा चल रही है। ज्वार निकला जा रहा है। जिसे चलना है, अपनी नौका खोल दे, उस विराट अनन्त की ओर, उस स्वाधीन दिगन्त की ओर। यह धारा पलट नहीं सकती, यह हवा बदल नहीं सकती। अब आँख माँजने से क्या फल है? नौका पर पाल उठा दो, रोकने की क्षमता किसी में नहीं। तीर का बन्धन आपसे-आप खुल जायेगा और नौका तीर की तरह बह चलेगी। यदि खींचातानी, रोक-थाम हुई तो फिर यह प्रलयिनी धारा, चट्टानों की चोट से, नौका की भुस्सियाँ उड़ा देगी। समग्र जीवन की बोझाई, पसीने की कमाई न जाने कहाँ विलीन हो जायेगी।

× × ×

मेरा यह मन्तव्य नहीं कि आप राधा-माधव को छोड़ दें। मैं आपके प्रमोदवन को श्मशान बनाना नहीं चाहता। यदि कालिन्दी कूल नहीं होता, तमाल-निकुंज की छाया नहीं रहती, ब्रज की वनिताएँ नहीं रहतीं, तब आज हमारी काव्य-फुलवारी में न ये कुसुम रहते, न यह रस-माधुर्य। सूर, देव, केशव और बिहारी जिस ललाम लीला को अपनी पुलकमयी भावगर्भिता भाषा में लिख गये, आज वही हमारे प्राचीन हिन्दी-साहित्य का गौरव है। लेकिन आज इस देश की दशा भिन्न है। हमारे विचारों में, हमारे अनुभवों में युगांतर मच रहा है। साहित्य समाज, देश या समय का मुकुर है। आज हमारे अन्तर की विराट उद्वेलना इसी दर्पण में प्रतिफलित हो रही है, लेकिन इस बात का ध्यान अवश्य रहे कि समयानुसार दो-चार ओजस्विनी कविताएँ, दो-चार प्रभावशाली प्रबन्ध अथवा दो-चार स्वदेश-वन्दना लिख देना ही साहित्य का विकास नहीं, किंवा नायक-नायिका-भेद, ऋतु-वर्णन,

अथवा किसी तरुणी का नखशिख रूप खड़ा कर देना ही हमारे साहित्य की महत्ता नहीं---चाहे लिखने की भंगी हज़ार अच्छी हो, प्रतिभा की अनवरत भरमार हो, पर दो घड़ी जी को खुश कर देना ही साहित्य का आदर्श नहीं। आजकल किधर की हवा है? कौन-सा नवीन फ़ैशन है? पाठकों की कैसी रुचि है? यही ढूँढ़ते-ढूँढ़ते हमारे लेखक व्यस्त हैं। जब तक लेखकों की एक आँख पाठकों की करताली की ओर और दूसरी अपनी गृहिणी के अलंकार शून्य कलेवर की ओर लगी है, तब तक आपकी लेखनी में न मौलिकता होगी और न सजीवता। मुझे आप क्षमा करें। मैं यहाँ किसी के ऊपर कटाक्ष नहीं करता। लेखकों का दायित्व बहुत बड़ा है—हमारा चरित्र-गठन आपके हाथों है। समाज का सुधार आपके हाथों में है।

× × ×

प्रसन्नता की बात है, बिहार न तो जासूसी उपन्यासों के घनचक्कर में पड़ा है और न उसने तिलस्म के फेर में पड़ पाठकों के दिल और दिमाग़ को ही परेशानी में डाला है। जहाँ तक मैंने देखा है, आरा के सुप्रसिद्ध लेखक ब्रजनन्दन सहाय के 'सौंदर्योपासक' और 'लालचीन'—ये ही दो उपन्यास हैं, जिनकी गणना हो सकती है। अन्यान्य युवक साहित्यिकों ने आज मातृभाषा हिन्दी के चरणों पर जो श्रद्धा की पुष्पांजलि रखी है, वह उनका प्रारम्भिक प्रयत्न भी अवश्य प्रशंसनीय है।

नाटकों की दशा और भी शोचनीय है। हमारे यहाँ एक तो नाटक ही नहीं। जो दो-चार हैं भी, उन्हें साहित्य की दृष्टि से किंवा अभिनय की दृष्टि से—किसी दृष्टि से देखिये—कुछ ऐसे नहीं कि शत वर्ष बाद भी उनके अवलोकन के लिए जनता की क्षुधा जागती रहे। हमारे ही एक पूर्व-पुरुष ने, किसी एक तापस की कन्या का चित्र खींचकर, विश्वलोचन के सामने भारत की प्रतिभा का नमूना दिखा दिया है तथा जर्मनी के जगद्विख्यात साहित्यिक गेटे की संज्ञा की धज्जियाँ उड़ा दी है और आज उसी जगन्मनोहर की सन्तान हम, एक ऐसा नाटक भी न लिख सके, जो विदेशी रंगमंच पर अभिनय के योग्य समझा जाये।

× × ×

अब आप इधर से दृष्टि फेरकर, उसे बंगाली भाइयों के रंगमंच पर लाइये। दीनबन्धु के 'नीलदर्पण' ने बंगाल में ऐसी धूम मचा दी कि निलहे साहबों की स्थिति जड़ से हिल गयी, द्विजेन्द्रलाल ने 'राणा प्रताप' लिखकर बंगालियों के प्राणों में स्वदेशप्रेम एवं जातीयता की बिजली दौड़ा दी तथा बंकिम के 'चन्द्रशेखर' ने नाटक के रूप में आकर, मानव-अन्तर के विविध रहस्यों को दिखाकर, शतसहस्र भारतीयों के हृदय को उदार अनुकम्पा से भर डाला।

महानुभावो! इसी से आप समझें कि इस समय देश में रोचक तथा उपदेश-प्रद नाटकों की कितनी जरूरत है। हिन्दी का प्रचार भी होगा, जनता का उपकार भी होगा।

मेरी समझ में हिन्दी और उर्दू को दो समझकर विरोध करना भूल है। लिपि अवश्य भिन्न है, लेकिन भाषा और भाव में कुछ विशेष अन्तर नहीं, दोनों का व्याकरण भी करीब-करीब एक ही है। हिन्दी की छोटी बहिन उर्दू की जन्मभूमि भी इसी देश में हैं। दोनों का रूप समान है—चाल-चलन एक है, लेकिन आज दो परिच्छेदों से सजकर, दो घरों में जाकर बिल्कुल दो हो गयी है। पंडितों ने संस्कृत के मोटे-मोटे गहने पहनाकर, हिन्दी को सर्वसाधारण के प्रेम से अलग कर दिया। मौलवियों ने फ़ारस और अरब के घाँघरे पहनाकर, दरबारों के क़ायदे सिखाकर, उर्दू को ख़ास अपने घर की चीज़ बना डाला। एक दिन दोनों बहिनें एक ही जगह पर, एक ही साथ, पली थीं। आज ये विरोधिनी होकर हमारी उन्नति में बाधक होती है। आज जो भेद पड़ गया है, उसे मिटाना पहाड़ तोड़ना है। कम-से-कम बोलचाल की भाषा से तो यह भेद उठा दिया जाये, ताकि आपकी राष्ट्रभाषा के प्रचार का पथ सुगम हो। आज हिन्दू-मुसलमानों की जन्मभूमि एक है, जलवायु एक है, राजनीति एक है, फिर भाषा एक क्यों न हो?

नागरी लिपि बड़ी सुगम है। रोमन और फ़ारसी लिपि एक तो हमारे देश की नहीं, दूसरे बड़ी टेढ़ी है—आसान नहीं। आज बड़े-बड़े धुरंधर विद्वानों का मत है कि नागरी लिपि ही राष्ट्रलिपि बनने के योग्य है। स्वर्गवासी पं० केशवराम भट्ट के प्रयत्न से बिहार की कचहरियों में नागरी लिपि को स्थान मिल गया है। सरकारी सूचनाएँ कचहरियों से जितनी निकलती है, वे प्रायः सभी देवनागरी लिपि में ही निकलती हैं, पर दुःख, लज्जा और कलंक की बात है कि हमारे वकील समुदाय और कचहरी के अन्यान्य अमले देवनागरी की ओर से उदासीन हो, वही पुरानी लकीर पीटे जाते हैं।

× × ×

कर्मवीर महात्मा गाँधी ने भरोंच के गुजराती शिक्षा-सम्मेलन के सभापति की हैसियत से कहा था कि शिक्षा में निपुण लोगों की सम्मति है कि जो शिक्षा आंग्ल भाषा को माध्यम रखकर 16 वर्षों में दी जाती है, वह मातृभाषा में 10 वर्षों में दी जा सकती है। यदि हमारे हज़ारों नवयुवकों की जवानी के 6 वर्ष बच जाएँ, तो देश को क्या कम फ़ायदा है?

× × ×

ठीक है तुम कोठरियों में खिड़कियाँ खोल दो, जहाँ अँधेरा मालूम हो, वहाँ नयी रोशनी की किरण भर दो, जो जगह संकीर्ण हो, उसे प्रशस्त, परिष्कृत कर दो, लेकिन इन मजबूत दीवारों को तोड़ मत डालो— इस क़िले के टुकड़े-टुकड़े कर अपने ही हाथों से अपनी स्थिति का तख़्त मत उलट दो। अब वे शिल्पी नहीं—वे कारीगर नहीं, जो ऐसी इमारत तैयार कर सकें, वे पत्थर नहीं—वे मसाले नहीं कि ऐसी लोहे-सी दीवार खड़ी कर दें। इसके मिटाने से तुम्हारा नामोनिशान मिट

जायेगा। तुम्हारे पूर्वजों ने अपना सर्वस्व गलाकर इसकी नींव डाली है—अपनी धमनी की अमर तरुण शक्ति देकर इसे इतना बड़ा बनाया है। तुम्हारा गौरव यही है—तुम्हारा सौन्दर्य यही है जगत के मनोहर स्वर्ग का सहोदर यही है। भगवान् इस मन्दिर को चिरंजीवी करें !

बिहार प्रान्तीय अस्पृश्यता निवारण सम्मेलन (1932)

सभापति के भाषण के कुछ अंश

अछूत हीन हैं, दुखी हैं और दलित हैं इसलिए हरगिज़ घृणा के पात्र नहीं। मैं मान लूँगा आप उन्हें घृणा नहीं करते। कम-से-कम आपका धर्म वह नहीं सिखाता। वरन दलितों को आप दया का पात्र समझते है। ठीक है, यही धर्म का सनातन उपदेश है। उन पर दया रखो। लेकिन नवीन युग का आदर्श कुछ और है। दया की दृष्टि से नहीं—इन्हें सम्मान की दृष्टि से देखो। छोटा समझकर उनको कृपा का पात्र न समझा वरन भाई समझकर भाई का व्यवहार करो। इनकी जीविका-वृत्ति कुछ ऐसी नहीं कि किसी के सामने इनकी आँखें झिप सकें। पसीने और ईमान की रोटी खानेवालों की आँखें सामने रहती हैं। अब वह जमाना रहा नहीं। आज एक तपस्वी के तपोबल से एक दिन में इनकी चेतना चंचल हो उठी है।

× × ×

सज्जनो ! मैं सनातनी हूँ, आर्यसमाजी नहीं। मैं राम के नाम का उपहास नहीं कर सकता। मै राम का भक्त हूँ। राम का नाम मेरे भवसागर की नाव है, लेकिन अकेले मेरे ही लिए नहीं, सबके लिए। मेरा राम उदार है, महान् है। मैं अपने राम का, अपने धर्म का अपवाद नहीं सुन सकता। उसकी महिमा अनन्त है, उसकी महत्ता अनन्त है। मेरे राम के मन्दिर में कहीं संकीर्णता नहीं, विभेद नही। विभेद और संकीर्णता तो हमारे मन में है।

× × ×

छूत और अछूत, ब्राह्मण और शूद्र, हिन्दू और मुसलमान, काले और गोरे, बंगाली और बिहारी, पूर्वी और पश्चिमी, एशियाटिक व यूरोपीय वग़ैरह-वग़ैरह—ये सब विभेद मनुष्यों ने स्वार्थपरतावश खड़े किये है। कहीं समाज है, कहीं धर्म है, कहीं चमड़े का रंग है, कहीं मुँह-नाक की बनावट है, कहीं भूमि का विभाग है—कहीं कुछ है, कहीं कुछ है। मतलब कि मनुष्य परिवार आज सैकड़ों हिस्सों में पुरजे-पुरजे अलग हैं।

कोई किसी को अछूत समझता है, कोई किसी को काला समझता है, कोई

किसी को विधर्मी पुकारता है, कोई किसी को काफ़िर कहता है, कोई किसी को विजातीय मानता है, कोई किसी को असभ्य समझता है और समझकर अलग रहना चाहता है। हालाँकि सब भाई हैं, सबका ईश्वर एक है, सबका अधिकार एक है, सबका हिस्सा एक है क्योंकि सभी एक ही मनुष्य-परिवार के एक-एक अंग हैं। जहाँ प्रेम चाहिए वहाँ विराग है, जहाँ एकता चाहिए वहाँ द्वेष है। परिणाम क्या है? घर में, परिवार में, समाज में, देश में, संसार में कहीं भी शान्ति नहीं। आज तुम यहाँ छूत और अछूत ही के झगड़े लिए व्यस्त हो। यह तो इस लड़ी की पहली कड़ी है। मैं तो इसे पहली मंज़िल मानता हूँ। इसी में देर लगी तो फिर आगे क्या करोगे? मंज़िले मक़सूद अभी बहुत दूर है, हमारे सामने तो अभी हज़ारों दीवालें खड़ी हैं।···

श्री हरिऔध अभिनन्दनोत्सव
(आरा, बिहार 1937)

सज्जनो,

आज जिस मंगल-यज्ञ की पूर्णाहुति है, उसका श्रीगणेश आज से ढाई वर्ष पहले हो चुका था!

× × ×

आज कवि-पूजन के इस पुण्य-पर्व के पुरोहित का आसन राजेन्द्रबाबू ग्रहण करें, यही हम दीन पुजारियों का मनोरथ और नम्र निवेदन है। अपने पुरोहित को देखकर ही हम अपने निर्माल्य की नगण्यता भूल जायेंगे और कृतज्ञता के सिवा आचार्यत्व की दक्षिणा भी हमारे पास और क्या होगी।

आज जिन्हें हम अपनी आँखों पर बिठाने चले हैं, वह कविता-कामिनी की आँखों के तारा हैं। अपने आराध्य कवि श्री 'हरिऔध' जी की महानता हम किन शब्दों में प्रकट करें? उनकी महानता स्वयं महान है। फिर आह्वान के इतने दिनों बाद पूजा का विधान करनेवाले हम पुजारियों के अक्षम्य अपराध को क्षमा कर हमारी दृष्टि में वे और भी महान हैं। हमारे कवि ने लोक-कल्याण की कामना से निःस्वार्थ सेवा का अलौकिक पथ-प्रदर्शन किया है। दरिद्रनारायण की सेवा का व्रत लेकर आज आप कवि-सम्राट ही नहीं, हृदय-सम्राट भी हैं। आपको अभिनन्दित कर हम खुद अभिनन्दित होते हैं। भगवान की पूजा कर भक्त अपना भाग्य सँवारता है—भगवान का नहीं। भगवान तो स्वयं भगवान हैं।···

कविवर! अपने पुनीत काव्य-जीवन में मानव-प्रेम का जो पुण्यव्रत आपने धारण किया है, उसके लिए अधीर मानवता शत-शत साधुवाद देकर धन्य-धन्य है। आपके चौपदों के चोंचले, क़लाम के करिश्मे, भावों की जिन्दादिली, आपकी

कल्पना की रंगीली, छन्दों की लहरी, शब्दों की मीनाकारी, हिन्दी-संसार में निराली ही नहीं, अनूठी भी है। आपके चुभते चौपदे अंगूठी के नगीने—रोज़मर्रे की ज़बान के नमूने हैं। जिस दिन हमें अपनी माँ की बोली में तुतलाना भी नहीं आता था, उस दिन 'बोलचाल' का ढंग देकर आपने जो हमारा गूँगापन दूर किया उसका प्रतिदान हमारे पास क्या है? आपके 'चोखे चौपदे' का रस चखकर हमने रोना-हँसना सीखा, 'चुभते चौपदे' हमारे अन्तरतम में चुभकर हमें जागरूक बना लाये और तब अपनी राष्ट्रभाषा की ओर हमारी आँखें आ लगीं। 'देवबाला' के रंगीन आँचल में 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' बाँधकर हिन्दी के मस्तक पर आपने विजय की बिन्दी लगायी।

× × ×

करुणा रस का जो अजस्र स्रोत 'प्रियप्रवास' में कवि ने अपनी वरदा वीणा को छूकर बहा दिया है, वह स्रोत अनल को अनिल, सिल को दिल, हलाहल को हाला, रिस को रस और कुलिश को किसलय बना देने को सिद्ध 'छू-मन्तर' है। आपके 'प्रिय-प्रवास' के राधा और कृष्ण, बिहारी और देव के—गीत गोविन्द के—राधा और कृष्ण से अलग ढाँचे में ढले हैं। वे कुछ और हैं, ये कुछ और है। वे हमारे हृदय में भाव भरते हैं, ये हमारे हृदय में सद्भाव भरते हैं। वे हमारी मनोवृत्तियों को कोमल-मधुर बनाते हैं, ये हमारी मनोवृत्तियों को सबल-पवित्र बनाते हैं। आपकी राधा कुछ रासविलास की पुतली राधा नहीं है। आपकी राधा, सेवापरायण आदर्श महिला है, जिसकी हृत्तंत्री पर विश्ववेदना का स्वर उठता है। आपके 'प्रिय प्रवास' का कृष्ण भी महज गोकुल का नटवर नहीं, प्रेम का आकार है। वह त्याग के संचय का धुनी है—लोक-कल्याण का व्रती है। 'रस-कलस' में जो रस का उत्स उमड़ा है, उस रस का पान कर कितने क्षुधार्त्त प्राण तृप्त हो गये। यह रस-मन्दाकिनी जिस ओर बही, संन्यास सोहाग हो गया, विराग अनुराग हो गया, मरण जीवन बन गया। मुहर्रम को होली बना देना 'हरिऔध' जी जैसे कवि के ही बूते की बात है। अधिक मैं क्या कहूँ? 'हरिऔध' जी की जो भी कृति जिस किसी भी रूप में है, नितनूतन स्वागत की चीज़ है, दिल के गले की ताबीज है।

बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन

(आरा अधिवेशन-1937)

स्वागताध्यक्ष के भाषण के कुछ अंश

आज हिन्दुस्तान में एक मज़हब ही फ़साद का घर नहीं है, ज़बान भी है—चूँकि मज़हब की तह में ज़बान की पंख है। आदमी से आदमी को अलग करती हुई

दुनिया में जितनी दीवारें खड़ी है, उनमें ज़बान का अन्तराल भी एक दीवार ही है। हम आदमियत के मैदान में धर्म की दीवार खड़ी कर चुप बैठ न रहे, उस धर्म की पोर-पोर में ज़बान की मोर्चेबन्दी कर दी।

× × ×

हम तो अभी कमज़ोर हैं, टुकड़ों में बँटकर टुकड़ों के मुहताज हैं। हमारी न शान है न हमारी ज़बान का मान। हमारे पर तो बँधे है फिर परबाजों के पहलू में पर मारने का पराक्रम कहाँ है? पहले हम एक तो हों, अपना घर तो बाँधें—उस घर पर छप्पर तो हों, फिर पड़ोस से हाथ मिलाने का ख़्वाब देखें। अभी हम राष्ट्रीयता के तबके तक तो पहुँच न पाये, वहीं दिल्ली का लड्डू हो रही है।

इसलिए आज इस देश के व्रती राष्ट्रीयता के पथ से रोड़े चुनने में खम ठोंक कर भिड़े हैं। यहाँ एक-दो रोड़े नहीं, सैंकड़ों हैं। जात-पाँत, ज़बान, रिवाज, धर्म, कर्म वग़ैरह-वग़ैरह। इतने रोड़े शायद और कहीं न थे, न होंगे। फिर हमारी प्रगति की गति इतनी धीमी क्यों न हो? पग-पग पर फूँक-फूँक कर बढ़ना है, ठोकरें खाना है, गिरना है और दामन झाड़कर उठना है। दुनिया हमारी ठोकरों पर उँगली तो उठाती है, पर उँगली का सहारा नहीं देती। हमारी दर्दसरी उसकी दिलचस्पी की चीज़ जो हो, कुछ हमदर्दी की चीज़ नहीं। और, बात भी है। जो बाहर से सहारा ढूँढ़ता है, वह ख़ुद भीतर से खोखला होता है। फिर दूसरे को सहारा देने की क्या पड़ी है? जिसके दाढ़ों में लहू लग चुका, उसकी आँखों में पानी कहाँ से आये? हमारी फूट जिसकी रोटी है, वह हमारी चोटी क्यों छोड़ दे? आखिर वह आदमी है, कुछ देवता नहीं।

हमें तो अपने बल पर एक होना है—एक-दिल, एम-मत, एक-ज़बान, एक-आचार, एक-विचार। पैकटों के पैबन्द के टाँके टूटते देर नहीं लगती। यहाँ तो राष्ट्रीयता के सूत्र में बाँधकर सूत-से-सूत मिला देना है। इसी बन्धन में हमारी मुक्ति है—इसी कुर्बानी में हमारी जवानी है।

× × ×

आज हिन्दी में संस्कृत की बौछार न हो, उर्दू में अरबी-फ़ारसी की भरमार न हो, तो हिन्दी को उर्दू से अलग करार देना दुश्वार होगा। जहाँ वे सीधी-सादी बोल-चाल की ज़बान में हैं, वहाँ एक-दूसरे से अभिन्न हैं:

मैं ढूँढ़ता तुझे था, जब कुंज और वन में,
तू खोजता मुझे था, तब दीन के वतन में।

—क्या यह हिन्दी है? तो फिर उर्दू क्या है?

और,

अंगूर में धरी हैं पानी की चार बूँदें,
जब से वो खिंच गई हैं, तलवार हो गई हैं।

—क्या यह उर्दू है ? तो फिर हिन्दी क्या है ?

इसी तरह मुहावरे की रूह में खिंचकर सीधे-सादे शब्द भी तलवार की काट करते हैं।

जबान की सादगी खद्दर की बुलन्दी रखती है। वह सीधे हृदय से उठती है और टूटकर जिगर के पार होती है। मुहावरों की चुस्ती शब्दों की पस्ती में भी एक अजीब मस्ती बिखेर देती है। न कला की कमी होती है, न रस की क्षति। यों तो साहित्य की विभूति सादगी में भी है, रंगीनी में भी है। एक चेहरे की सहज प्रफुल्लता है, दूसरी हावभाव की भंगिमा। हमें गंगाजल की प्रसन्नता भी चाहिए और मौक़े-ब-मौक़े मदिरा की मादकता भी चाहिए।

द्वितीय विश्व-युद्धकालीन जन-सभा
[आरा (बिहार)—1942]
सभापति के भाषण के कुछ अंश

भाइयो !

हमने आज आपको तकलीफ़ दी कुछ इसी उम्मीद पर कि इस थोड़ी-सी तकलीफ़ का नतीजा हम सबके लिए अच्छा ही होगा। जब ख़तरा सर पर आता है, तो आदमी अपनी तमाम अकड़ ताक पर रख हर पड़ोसी, हर साथी-संगी की मदद ढूँढ़ता है। और हममें से कुछ ऐसे डरे और सहमे भी हैं कि कहीं से एक उड़ती ख़बर आयी और बैठे-बिठाये उनका तमाम होश हिरन हो गया। किसी ने कौवा कान ले गया का मज़ाक छेड़ा और बस कौए की तलाश की धुन में कान की मौजूदगी से इन्कार कर बैठे। आपने अख़बार में देखा होगा कि छपरे में कहीं बम गिरने का क़िस्सा लेकर वह 'वाह लैला' मचा कि समूचे शहर में भगदड़ मच गयी। आखिर जाँच होने पर पता चला कि कहीं पर सितारा टूट कर गिरा था और लोग उसे एकबारगी जापानी बम समझ बैठे।

× × ×

धरती पर बहिश्त तो उतरा नहीं—पाँव तले की धरती भी सरक चली। जिस ज्ञान की तह में प्रेम का परिमल नहीं, वह ज्ञान तो मंगल का मूल नहीं, विश्व का शूल है। आज पच्छिम की नुमाइशी वजेदारी के तमाम कच्चे चिट्ठे खुल-खुलकर उड़ रहे हैं और यह पोल जो खुल रही है तो हमें साफ़ दिखता है कि यह भेड़ की खाल में भेड़िया है—भेड़िया। पच्छिम का यह दावा कि वह दुनिया में सबसे आगे है आज उलटकर उसी के हाथों उसके मुँह पर कालिख पोत रहा है। और हमारे सामने ख़ून की नदियाँ बह रही हैं, उसकी शानबान की इमारत की ईट-से-ईट बज रही है। आसमान सर पर चक्कर काट रहा है और धरती का चप्पा-चप्पा लरज-लरज कर तहोबाला हो रहा है।

× × ×

जब जागिये, तभी सवेरा। बहुत सो चुके हम, बहुत भटक चुके हम। हवा का रुख देखकर हम अपनी नाव पर पाल बदलते नहीं, तो हमारी बोझी हुई नाव भँवर मे डूब जायेगी।

जिनकी जवानी, उनका ज़माना

विद्यार्थियों के बीच भाषण (पटना—1943) के कुछ अंश

प्यारे नौजवानो !

आज उठती कोंपलों की इस दुनिया में आकर हमारा दिल भी बेबस उठ बैठता है। हमें याद आ जाते है वह दिन जब उमंगों में झूमते दिन थे, उम्मीदों में बसी रात। अब तो दिन काटे खाते हैं और रात काटनी पड़ती है। एक दिन था कि आँसू भी उठते-उठते हँस देते थे, एक आज है कि खुशियाँ भी आते-आते रो पड़ती हैं। वही हम है, वही दिल : फिर भी यह सब कुछ क्या वही है ? कहाँ खो गयी वह दिल की गहरी उमड़न। क्या हुई वह ऊँची उड़ान की चितवन। न रहा वह बेफिक्री का आलम, न टिका वह स्वप्नों का मधुवन। क्या बताऊँ, क्या मौज थी। न रोटी की तलाश, न लीडरी की हवस, न मज़हब का शिकंजा, न पॉलिटिक्स का चकमा।

× × ×

बात यह है, उठती जवानी होती है बड़ी दिलफेंक। वह एक हथेली पर दिल और दूसरी पर जान लिए फिरती है। जहाँ बहार देखी—किसी रूप में, किसी रंग में, किसी ख़्याल में, किसी उसूल में, तो फिर आव देखा न ताव, बायें देखा न दायें—बस चट मचल कर दिलोजान निछावर कर दी। यही तो इस सिन की खास ख़ूबी है और ख़ास कमज़ोरी भी। उसमें जितनी रीझ है, उतनी बूझ नहीं, जितना जोश है, उतना होश नहीं। तभी तो बूढ़े कहते है कि जवानी अंधी होती है—बला से ! मगर उसकी चितवन कितनी ऊँची उठती है।

× × ×

कॉलेज के हवा-पानी में पनपते हुए नौजवानों के सामने आज सबसे बड़ा मसला यही है कि क्या आदमी-आदमी की ख़ुराक है ? क्या आदमी आदमी को जानवरों की तरह चीर-फाड़ ही करता रहेगा या आदमी के साथ आदमी का बर्ताव रखेगा ? आखिर क्या है आदमी की पहचान ? आदमीयता या और कुछ ? क्या 'मानव का परिचय मानवपन' झूठा है ? क्या 'आदमी को भी मयस्सर नहीं इंसाँ होना ?' अगर उसका इंसानियत का दावा सच है, तो फिर आज हम यह क्या देख रहे हैं ? आज ही क्या, जब से यह दुनिया क़ायम है, तभी से कुछ यही क़यामत का तमाशा है।

जाने कब हमारी इस धरती के दाढ़ों में आदमी का लहू लगा। आज तो मज़ा

चखकर लहू की प्यासी हो उठी है। पीती है, पलभर होंठ चाटती है और फिर मानों पुकार उठती है--

इस दौर से तो भींग न पाया है गला भी,
एक दौर नया और चला मेरे साक़िया।

× × ×

हम जानते हैं, विलायत को अपने सायन्स पर नाज है। वह नाज उसे मुबारक रहे। हम भी सायन्स के करिश्मे देखकर दंग हैं। यह उसी की शान है कि आज इतनी लम्बी-चौड़ी दुनिया सिमट कर हमारी मुट्ठी के भीतर आ गयी। मगर हाँ, वह मुट्ठी ही तक रही, छाती तक नही उतरी। आदमी को तो उसने आसमान पर उड़ा दिया, पर साथ-साथ उसके दिल को ऊँचा उठा न सका। उसने बल को तो बढ़ाया, पर दिल को बढ़ने नहीं दिया। और, वह बढ़ता हुआ बल दिल को भी ढक लेता है।

आज क्या रवैया है?—इधर आदमी की तरक्की है, उधर आदमीयत की तबाही। इधर दिमाग़ का बोलबाला है, उधर दिल का दिवाला है। इधर लिफ़ाफ़े की रंगीनी बढ़ रही है, उधर ख़त का मजमून बिगड़ रहा है। राजनीति हँस रही है, नीति रो रही है। बल ताल ठोकता है, शील कपाल ठोकता है।

× × ×

आदमी की देह लेकर तुम इस दुनिया में आये—आदमी की सूरत, आदमी की सीरत, आदमी के ऐब, आदमी के हुनर, आदमी की ताक़त, आदमी की हसरत, आदमी की नरमी, आदमी की गरमी—सब कुछ लेकर। और, यह सब कुछ जो तुम में है, वह सब में है। मगर तुम लम्बे और नाटे, गोरे और काले चमड़े से चिमट कर, बाहरी चकाचौंध में यह भूल जाते हो कि पानी का घड़ा और पानी—दोनों दो चीजें है।

तुम हिन्दू हो, तुम मुसलमान हो, तुम क्रिस्तान हो—तुम जो भी हो, वही रहो, पर ख़्याल रहे, तुम सबसे पहले इंसान हो। तुम्हारा मुल्क हिन्दुस्तान है, तुम्हारा मुल्क तुर्किस्तान है, तुम्हारा मुल्क इंगलिस्तान है—सब सही है, सब वाजिब है, मगर फिर भी, तुम्हारी धरती तो एक है, तुम्हारा आसमान तो एक है। तुम्हारी हवा तो एक है, तुम्हारा पानी तो एक है। तुम पहले आदमी हो, उसके बाद जिस देश की रंगत हो—हो, जिस जाति की गढ़न हो—हो, जिस धर्म की कलई हो—हो, मुझे बहस नहीं। इंसानियत की नींव पर जो दीवार खड़ी होगी, वही पायेदार होगी। और, अगर इंसानियत नहीं रही, तो फिर तुम आलिमों में आलिम क्यों न हो, पंडितों में पंडित क्यों न हो, तुम ज़िन्दगी में हज़ार हज करो या दिन रात जप-तप करो, इसकी कोई वक़त नहीं। मिट्टी की दीवार पर सोने का पानी चढ़ाकर क्या होगा?

मैं खुरो मसहफ़ बमोजो आतिश अन्दर काबाज़न;
माक़िने बुतख़ाना बाशो मरदुमाज़ारी मकुन।

× × ×

याद रखो, तुम मरने नहीं आये हो—मरे तुम्हारा दुश्मन। और, वह दुश्मन कोई आदमी नहीं, तुम्हारी अपनी ख़ुदी है। तुम महज जीने के ही लिए नहीं जीते। वैसे जीते तो हैं नाबदान के कीड़े भी। वे भी खाते-पीते हैं, सोते-जागते हैं, दर्जनों अंडे देते हैं और रेंग-रूँगकर अपनी ज़िन्दगी की मीयाद पूरी कर देते हैं। तुम्हारे साथ तो मरने का सवाल नहीं। तुम्हें तो मौत को जीतना है। देह जाती है, तुम नहीं जाते। नाम मिटता है, तुम नहीं मिटते। तुम कब नहीं थे, कब नहीं होगे? तुम एक होकर भी अनेक हो, अनेक होकर भी एक हो।

बस, हमारी दिली तमन्ना है कि तुम आपस में मेलजोल की जिन्दगी की नींव डालो। यानी, तुम एक-दूसरे के उसूलों की, तरीक़ों की, रिवाज़ों की दिल से इज़्जत करो और अपने पड़ोसी के साथ वही वर्ताव रखो जिसकी उम्मीद तुम अपने लिए भी उससे करते हो।

हिन्दी साहित्य संघ (गर्दनीबाग़, पटना)

[प्रथम वार्षिकोत्सव—1944]

उद्घाटन भाषण के कुछ अंश

भाई! ठाकुर की बारात में जने-जने ठाकुर। और बस, लीजिए, मैं भी लोटपोट कर इस जमात में आ ही गया। हाँ, आने को तो आया पर क्या टका-सा मुँह लिए आया, जब आपके लायक या अपने लायक भी कोई भेंट न लाया। क्या करता? बस रहता तो बसन्त के अवसर पर एक नयी आन-बान से आता चन्द बने-चुने फूलों की डालियाँ सजाये, कि यह महफिल भी मह-मह कर उठती। मगर चारा। गर्दनीबाग़ के मंत्री की बन्दिशों से, गर्दन तो छूट न सकी, लीजिये, खड़े-खड़े खिंच आया।

× × ×

कौन है जो सुख नहीं चाहता? मगर कौन है जो सुख पा सका? अरे भाई, जहाँ चाह है वहाँ सुख कहाँ? और जहाँ सुख है, वहाँ चाह कहाँ? सुख की पहली सीढ़ी तो शायद इच्छाओं की निवृत्ति है। किसी चाह के चकोह में तो सुख की एक छिछली छाँह भी मयस्सर नहीं।

× × ×

यह सुख आता है साहित्य, काव्य, विज्ञान और कला की साधना की राह। और साहित्य की वासना भी इस जीवन की एक बड़ी-से-बड़ी उपासना से भी आँख मिला सकती है। सच मानिये, संसार के प्राण झुलसाते विकट मरु की हिम्मत

तोड़ देने वाली लम्बाई-चौड़ाई के बीच यह रेगिस्तान की हरियाली भी एक अपनी ही शान रखती है।

इसलिए रोटी-दाल की पहरेदारी-नौकरी की मुँहबायी अँधियारी के रहते भी साहित्य की ओर झाँकने की अपने दिल के अन्दर एक काँपती-झिपती किरण भी आप ढूँढ़ पाये तो मेरा भी सहमा दिल सँभल उठा कि अब आपकी बोझी हुई नाव किनारे जाकर रहेगी। और वर्षों की दिलबसी मेरी धारणा आज जबान पर धड़ल्ले से उतर आती है कि सचमुच भाव और अभाव के संघर्ष से पिसते भावुक जीवों के लिए साहित्य के साये से बढ़कर कोई निरापद आश्रय नहीं और दुनियादारी की उलझनों के सुलझाव के लिए भी इससे सुगम कोई और साधन नहीं। फिर तो इस राह का सही पता पाने के लिए आपको बधाई तो मैं आज दिये देता हूँ, मगर गुस्ताख़ी माफ़, शाबाशी तो तब दूँगा जब आपके गिरोह के मेम्बरों के हाथ की क़लम सेक्रेटेरियट की फ़ाइलों पर दौड़ने के अलावा साहित्य के चमन में भी अपनी अनूठी गुलकारी दिखाती रहेगी।

× × ×

मगर हाँ, यह बात नहीं कि साहित्य का शौक़ केवल दो घड़ी का वहलाव-भर है। इस जीवन के जंजाल में घड़ी-भर का यह एक खेल ही सही, पर खिलवाड़ हर्गिज नहीं। यह हमारी सान्त्वना ही नहीं, साधना भी है, उद्दीपना भी। साहित्य में लोरी भी है, बाँसुरी भी और रणभेरी भी। यहाँ रति है तो विरति भी, प्रगति है तो सद्‌गति भी। यह रस तो है ही, पर नशे का जाम भी है और अमृत का घूँट भी—जब जैसी चाह हो। किसी रंगमहल की रंगीनियों की वासना अगर किताबों की सोहबत से दुन्द बाँधती है तो कभी विराट् के विश्व-रूप की उपासना भी साहित्य की ही देन है। इसलिए साहित्य, जन-मन-रंजन ही भर नहीं, वह भव-भय-भंजन भी बराबर है।

× × ×

मैं कोई सन्देश देने भी नहीं आया, चूँकि मैं तो आप में से ही एक हूँ। प्रशंसा भी करूँ तो आत्मप्रशंसा का दोषी बनूँ। और निन्दा करूँ तो अपनी निन्दा चाहता कौन है? हाँ, बस इतना जरूर है कि आपके प्रयास की पवित्रता में मेरी श्रद्धा है और उसके भविष्य की सफलता पर आस्था।

सुहृद् संघ (मुजफ़्फ़रपुर बिहार—1944)

सभापति के भाषण के कुछ अंश

भाई!

आज अपने को कवियों के इस समारोह के बीच पाकर हम अपने आपको नहीं पा रहे हैं। पाएँ भी तो कैसे पाएँ? है भी हमारी कोई गुजर यहाँ? बड़े आये हैं

जाने क्या बनकर। है भी कहीं रस का छींटा दिल के पहलू में ? बस, लहू लगाकर चले हैं शहीदों में नाम लिखाने। टिकेगा मोरों की पाँत में यह मोरों का पाँख ?

× × ×

भाई, गुस्ताखी माफ़। आपकी भी क्या बातें हैं। जैसे कि यह उद्घाटन किसी अनुष्ठान के पहले हम जैसे गोबर-गणेश का आवाहन है। आपने भी कहा कि जाओ, तुम भी क्या याद करोगे कि कोई क़द्रदाँ है तुम्हारा। बस, बैठे-बिठाए एक तमाशा खड़ा कर दिया हम जैसे अनाड़ी को लेके। हमारी तड़प भी न देखी। भला, कहिए तो, यह हम पर सितम है या करम ? मगर याद रहे—

सितम इश्क़ में आप आसाँ न समझें,
तड़प जाइएगा जो तड़पाइएगा।

× × ×

बस, हम तो चाहते हैं मस्ती का एक पुलक-प्लावन—एक आनन्द-गुंजन। आप गाइए, हम झूमें, आप रस बरसाइए, हम भीगें, आप बिजली गिराइए, हम थर्राएँ और आप लौ लगाइए, हम तड़पें—

मेरा जो हाल हो सो हो, तू गाए जा, रिझाए जा।
हम मस्त झूमते रहें, तू रस-कलश बहाए जा॥

× × ×

तो अब आइए, आप इस समन्वय के मन्दिर के निर्माण में कवि की वाणी का आह्वान करें। कवि की कला कुछ मनोरंजन ही के लिए नहीं होती, उसके सामने कल्याण भी है, निर्माण भी।

हे कवि, मान और अपमान से ऊपर आसमान की ऊँचाई पर तुम्हारे हृदय का आसन हो और आज की हवा के झकोरे उसे छूकर बहें तो बहें, मगर देखना, कहीं तुम्हारे आसन को ही न उड़ा ले जायें। तुम्हारी सूझ और जिज्ञासा, तुम्हारी वाणी में तेज और गरिमा अक्षय हो—ऐसा कि जब क़लम के घाट उतरें तो इस व्यापकता, इस कला के साथ कि क्या मजाल जो समय का कोई मौसम उस पर जंग चढ़ा दे ? हाँ, तुम्हारे क्रम की प्रगति जरूरी है, मगर प्रगति के साथ परिणति भी हो। युग को गोद में लिए आदर्श हो, आदर्श को सर पर रखे युग। शक्ति की मूठ पर संयम का हाथ हो, ज्ञान के सीमन्त पर प्रेम का सिन्दूर।

× × ×

हम अपनी तो कह चुके। हाँ, एक अर्घ्य बाकी है। जिस जीवन की साधना ने हमारे साहित्य को, प्रेरणा और वाणी को उद्दीपना दी, राजनीति को नीति, विश्व को अहिंसा और भारत को आत्मगरिमा प्रदान की, उसी जीवन की अपनी प्रेरणाओं की एक आधार भित्ति काल के चक्र में पड़ टूट गयी। उस टूटने की धमस का कम्पन यहाँ भी आ गया है—कहाँ न गया वह। विज्ञान और बारूद की

बनी दुनिया माने या न माने, वह बरबादी के हाथियारों के ढालने में आज भी अपनी आस्था रखती है तो रखे, पर साबरमती फैक्ट्री से अहिंसा के अमोघ अस्त्र जो ढल चुके है, उनकी धार अभी मुड़ी नहीं है। हमारी ही क्या हर किसी की आज टकटकी-सी बँधी है कि सत्य की शक्ति के उस व्रती का बायाँ अंग चाहे जो छिन गया, उसकी छाती की पंजरियों में दधीचि की हड्डियों की फ़ौलादी सत्ता ज्यों-की-त्यों बनी है और वह एक दिन मानव-संगठन की योजनाओं से हिंसा की तमाम फड़कती नसें उधेड़कर धर देगी। हमें आशा ही नहीं, दृढ़ विश्वास है कि आज के इस शोक की धमस से उस साधना की लौ पर कोई आँच न आएगी— उसकी नज़र जिस ऊँचाई तक उठ चुकी है, वह इस जीवन के सुख-दुख की किसी मरीचिका में पड़ कभी झपकेगी नहीं।

न झपकेगी वह खंजर की चमक से।
हमारी आँख क़ातिल से लड़ी है।

राजेन्द्र कॉलेज (छपरा, बिहार–1944)

भाषण के कुछ अंश

यह हमारी चाह है जो किसी स्वर में रस भरती है, किसी गति में छन्द, किसी चितवन में मद पाती है, किसी मुस्कान में मधु। और—

इसी मधु का लेने को स्वाद,
हलाहल पी जाता संसार।

मगर यह मधु का निर्झर तो हमारे मन के कोष में है, किसी के होंठ में नहीं। वह चाहे जिस व्यंजना, जिस संकेत पर भर दे, उसकी मर्जी—

तुमि संध्यार मेघमाला,
तुमि आमार निभृत साधना,
आमि आपन मनेर माधुरि मिशाय
करेछि तोमार रचना।

वह हमारे मन की माधुरी है जो जिधर ढल गयी उधर रस की फाल्गुनी उतर आयी। एक ही फूल है—बर्रे उससे विष लाते हैं, भौंरे उससे मधु पाते हैं। वही नारी है—विश्व मोहिनी भी, जगज्जननी भी। जब कामना है तो कामिनी, जब श्रद्धा है तो जननी। रामकृष्ण परमहंस ने अपनी पत्नी को भी माता के रूप में देखा, देवेन्द्र ने गुरु-पत्नी को भी···जाने दीजिए—

जाकी रही भावना जैसी।
हरि मूरत देखी तिन तैसी॥

× × ×

आखिर प्रेमचन्द ने क्या कहा है जिसे शरतचन्द्र ने नहीं कहा ? न शरत की बात बासी पड़ेगी, न प्रेमचन्द की। राम की कथा हम सौ बार सुन चुके, कृष्ण की लीला हम हज़ार बार देख चुके, मगर राम और कृष्ण की चर्चा जैसे चलती रही है वैसे चलती रहेगी।

× × ×

भाई मेरे, बस यही समझ रखिए कि एक ढंग से कहना आये, तो क्या बात है जो कभी किसी को बासी लगे ? देखिए न, कला की क्यारी बदलती है, कला की मोहिनी नहीं बदलती। तीरन्दाज़ी के तौर बदलते हैं, तीर की मार नहीं बदलती। सौन्दर्य का चमन बदलता है, सौन्दर्य का आकर्षण नहीं बदलता। शृंगार का रूप बदलता है, शृंगार का निखार नहीं बदलता। सुख की राह बदलती है, सुख की चाह नहीं बदलती। जमाने की रविश बदलती है, आदमी की हवस नहीं बदलती। जीवन की परिस्थितियाँ बदलती हैं, मन की वृत्तियाँ नहीं बदलतीं। रस के उत्स बदलते हैं, रस की प्यास नहीं बदलती। और साहित्य की टेकनीक लाख बदले, साहित्य की माँग नहीं बदलती।

× × ×

यह तो तय है कि हम कला को उसकी ऊँचाई से उतार बाज़ार की मुँहलगी बनाने के क़ायल नहीं। वह खादी की सादगी रखती है तो गाँधी की बुलन्दी भी रखे। कहीं वह करतालियों की सस्ती सुराही की चाट पर ढली-की-ढली रह गयी तो फिर वह अमृत की प्याली ढाल नहीं पाती। कला तो वह है जो युग की माँग के साथ-साथ इस जीवन की चरम माँग का भी इशारा देती चले। वह साहित्य भी क्या जो दो पल हमारे हृदय की रगों को गुदगुदाकर उड़ गया। उसे तो दिलदार भी होना है और चिरन्तन का आधार भी। उसे केवल हमें रिझाना ही नहीं है—मन की गुत्थियों को सुलझाना भी है। वह उपभोग ही के लिए नहीं—हमारे मनोयोग के लिए भी है। वह रस की चाशनी ही नहीं—चित्त की शान्ति भी है। वह कोरा चरित्र-चित्रण ही नहीं—चरित्र-गठन भी है—आत्म-मंथन भी। और मनोरंजन के साथ-साथ वह भय-भंजन का भी संकेत है, तो फिर समझ लीजिए कि इस जीवन की बिसात पर कला के मोहरे लाल हो गये।

× × ×

आप भी इस मधुशाला में आये। बधाई ! आज तो दो घूँट भी गनीमत है, मगर यह रस का नशा दिल की रगों तक भिन पाया तब वह दिन दूर नहीं, जब दौर-पर-दौर होगा और आपके इस पौर पर रस की प्यासी दुनिया अन्धाधुन्ध खिंचकर आएगी।

बस, लगी रहे लौ। यही दिल की जवानी है। यही मदमस्ती ! सच मानिए, वह जवानी क्या, जो देह की लहरों पर ही उमड़कर रह गयी—दिल की उमंगों में

बसी नहीं। और वह मस्ती भी क्या, जो आँखों में ही छायी रही, हृदय की अनुभूतियों तक उतरी नहीं। जब हृदय की हरियाली ही न रही तो फिर न आँखों की गुलाबी रंग लाती है और न गालों की गुलाबी। बस, हमारी तो यही दिली तमन्ना है कि छायी रहे आपके दिल पर मस्ती और झूमती रहे उँगलियों की पोर पर लेखनी।

आरा (बिहार) नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद को अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित किए जाने के अवसर पर (1950)

स्वागताध्यक्ष के भाषण के कुछ अंश

भाई मेरे,

आज हमारे घर के पौर पर वह आया है जो बूँद-बूँद हमारा अपना है। 'एक भरोसो एक बल एक आस विश्वास'—वह हमारा राष्ट्रपति ही नहीं, हमारा सुहृद् भी है, सर्वस्व भी। हमारा नेता ही नहीं, हमारा सखा भी है। हमारा रहबर ही नहीं, हमारा दिलबर भी है। और वह इल्म का खज़ाना ही नहीं, दिल का दरिया भी है।

मगर वह सेवक पहले है, मालिक पीछे; हमदर्द पहले है, प्रेसीडेन्ट पीछे और हृदयेश्वर पहले है, दिल्लीश्वर पीछे। जभी तो आज आपको अपने यहाँ पाकर हम अपने आपको नहीं पा रहे हैं जैसे। दिल के अन्दर वह गहरी उमड़न, वह पुलक-प्लावन, वह आवेश, वह आलम है कि उसे ज़बान अदा नहीं कर पाती। आख़िर वह भावानुभूति भी क्या जो वाणी की सीमा में आ गयी और वह श्रद्धा भी क्या जो किसी स्वागत की योजना में उतर आयी।

× × ×

उन दिनों राजेन्द्र बाबू की वकालत दून पर थी। उसने दिन दूनी रात-चौगुनी की गति ले रखी थी। अदालत में जैसी उनकी धाक थी वैसी उस सिन में किसी और की क्या होगी? बड़े-बूढ़े भी उनकी सूझ और बूझ के क़ायल थे। वह दिन दूर नहीं कि हाईकोर्ट की जजी उनके दर पर माथा टेकती—अगर गाँधी की आँधी में पड़ उस सुनहली सम्भावना की धज्जियाँ उड़ाने पर वे तुल नहीं जाते। न ज़र की एक चली और न पद की।

× × ×

बस प्याला छलक पड़ा। वे खुल पड़े। बोले—"मेरी किश्ती तो दरिया में जा चुकी, पानी पड़े या पत्थर।"

"मगर ऐसी जल्दी भी क्या है? आप जैसे जिम्मेवार को तो यह नहीं फबती। दुनिया की आँखों में ऊँचा उठने के लिए आपका अपना व्यक्तित्व ही क्या कम है?

फिर जेल का आवाहन क्यों ? देश के प्रति हमारा जो भी धर्म हो, अपने प्रति तो धर्म सनातन है। बस, आपको तो अपने को तोलकर ही, अपने को देखकर ही, इस तूफ़ान में क़दम रखना चाहिए।"

भाई, जो आप अपने को देखता है वह देश को नहीं देख पाता और जो अपने देश को देखता है वह अपने को देख नहीं सकता। हमारे साथ तो देश पहले है, हम पीछे।

× × ×

बस, हमारे राजेन्द्र बाबू अपने को दोनों हाथों उँड़ेलकर देश को जो कुछ देते आये उसकी तो कोई गणना नहीं, मगर इन तमाम झंझटों के बावजूद भाव और भाषा की दुनिया को उनकी देन कुछ कम महत्त्व नहीं रखती। हिन्दी की सेवा भी उनकी अपने ढंग की अनूठी रही है निरन्तर। हम तो उसे लाखों में एक कहेंगे।

× × ×

जभी तो हमारी 'सभा' उनके चरणों पर आज यह श्रद्धांजलि की डाली लायी है और दिल की सदा उसकी वाणी पर जैसे दुआ बनकर आती है कि जैसा उन्नत तुम्हारा हृदय है उससे भी कहीं उन्नत तुम्हारा स्वास्थ्य हो और जैसी लम्बी तुम्हारी कीर्ति है उससे भी कहीं लम्बी तुम्हारी ज़िन्दगी।

राजेन्द्र। सुखी रहो आनन्द से
तुम नीके रहो सब ही के रहो।

राधिकारमण प्रसाद सिंह की साहित्य-साधना पर दिनकर जी की पंक्तियों से ही पुस्तिका समाप्त करता हूँ—

"गृहपति होकर उन्होंने बड़ी-बड़ी ज़िम्मेदारियाँ निभायीं और सारा काम करते हुए इतना ऊँचा और इतना अधिक साहित्य भी लिखा, यह बताता है कि उनका हृदय बैरागी का हृदय था।"

जीवन-वृत्त

जन्म : 10 सितम्बर, 1890 ई०

निधन : 24 मार्च, 1971 ई०

जन्म-स्थान : ग्राम सूर्यपुरा, थाना-दावथ, ज़िला-शाहाबाद (अब रोहतास), (बिहार)

पिता : राजा राजराजेश्वरी प्रसाद सिंह ('प्यारे' कवि)

माता : रानी शकुन्तला देवी

शिक्षा : प्रारम्भिक शिक्षा घर में पण्डित जी और मौलवी साहब की देख-रेख में। फिर 1903 में आरा जिला स्कूल में प्रवेश। इंट्रेंस परीक्षा कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण। 1907 में सेंट जेवियर्स, कलकत्ता में। बंगभंग आन्दोलन में कार्य करने तथा श्री अरविन्द से प्रभावित होने के कारण जिलाधीश द्वारा आगरा कॉलेज, आगरा मे एफ. ए. के दूसरे साल में प्रवेश। वहीं से एफ. ए. पास। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के म्योर सेंट्रल कॉलेज से 1912 में बी. ए. पास और संस्कृत में स्वर्णपदक प्राप्त। कलकत्ता विश्वविद्यालय से पटना कॉलेज, पटना के छात्र बनकर 1914 में इतिहास में एम. ए.।

राजकाज : पिता की मृत्यु 6 अप्रैल, 1903 से लेकर 1917 तक राज कोर्ट ऑफ वार्ड्स के अधीन। 1916 में कोर्ट ऑफ वार्ड्स के मैनेजर नियुक्त। 1918 में राज कोर्ट ऑफ वार्ड्स से मुक्त और रियासत का संचालन।

सार्वजनिक जीवन : 1 जनवरी, 1920 को 'राजा' की उपाधि से विभूषित। 1922 से 1928 तक शाहाबाद (आरा) डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के प्रथम भारतीय चेयरमैन। 1933 से 1940 तक बिहार हरिजन सेवक संघ के अध्यक्ष।

1942 से 1952 तक पटना यूनिवर्सिटी सिनेट के सदस्य। 1952 से 1962 तक बिहार यूनिवर्सिटी सिनेट के सदस्य।

साहित्यिक जीवन : 1920 में बिहार हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के द्वितीय अधिवेशन (बेतिया) के अध्यक्ष। आरा नागरी प्रचारिणी सभा के आजीवन सभापति। 1937 में बिहार हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष। बिहार राष्ट्रभाषा-

परिषद् की सामान्य समिति के 1950 से 1970 तक सदस्य। 1964 तक साहित्य अकादेमी, दिल्ली के सदस्य 1956 से। 1937 में देशरत्न राजेन्द्र प्रसाद की अध्यक्षता में गठित मौलाना अबुल कलाम आज़ाद के साथ हिन्दुस्तानी कमेटी तथा नाट्य संगीत अकादमी (बिहार सरकार) के सदस्य। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के सदस्य। बिहार के तथा देश के अनेक कॉलेजों तथा अन्य साहित्यिक संस्थाओं के साहित्यिक समारोहों के अध्यक्ष और उद्घाटनकर्त्ता। महाराजा कॉलेज, आरा की प्रशासन समिति के सदस्य तथा सूर्यपुरा राजराजेश्वरी हाई स्कूल के संस्थापक और आजीवन अध्यक्ष। 'नई धारा' के संस्थापक तथा संचालक।

1962 में अपनी हिन्दी सेवाओं के लिए 'पद्मभूषण' की उपाधि से सम्मानित। राजेन्द्र अभिनन्दन-ग्रन्थ के सम्पादक। 1965 में बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद् द्वारा वयोवृद्ध साहित्यिक पुरस्कार और सम्मान। 1969 में मगध विश्वविद्यालय से 'डॉक्टर ऑफ लिटरेचर' की डिग्री से विभूषित। प्रयाग हिन्दी साहित्य सम्मेलन से 1970 में 'साहित्यवाचस्पति' की उपाधि से विभूषित।

परिशिष्ट-ख

प्रकाशित-साहित्य

1. नये रिफ़ॉर्मर (नवीन सुधारक) : 1911, प्रहसन
2. कुसुमांजलि : 1912, कहानियाँ
3. नवजीवन (प्रेमलहरी) : 1912, लघु उपन्यास
4. तरंग : 1920, लघु उपन्यास
5. राम-रहीम : 1936, बृहत् उपन्यास
6. गाँधीटोपी : 1938, कहानियाँ
7. सावनी समाँ : 1938, कहानियाँ
8. पुरुष और नारी : 1939, उपन्यास
9. टूटा तारा : 1941, संस्मरण (उपन्यास)
10. सूरदास : 1942, उपन्यास

11. संस्कार	: 1944, उपन्यास
12. नारी—क्या एक पहेली ?	: 1951, कहानियाँ (जानी-सुनी-देखी)
13. पूरब और पच्छिम	: 1951, उपन्यास (जानी-सुनी-देखी)
14. हवेली और झोंपड़ी	: 1951, कहानियाँ (जानी-सुनी-देखी)
15. देव और दानव	: 1951, कहानियाँ (जानी-सुनी-देखी)
16. धर्म की धुरी	: 1953, नाटक
17. अपना-पराया	: 1953, नाटक
18. वे और हम	: 1956, कहानियाँ (जानी-सुनी-देखी)
19. चुम्बन और चाँटा	: 1957, उपन्यास (जानी-सुनी-देखी)
20. धर्म और मर्म	: 1959, धर्मचर्चा (जानी-सुनी-देखी)
21. तब और अब	: 1959, संस्मरण (जानी-सुनी-देखी)
22. नजर बदली, बदल गए नजारे	: 1961, नाटक
23. अबला क्या ऐसी सबला ?	: 1962, कहानियाँ
24. बिखरे मोती, खंड-1	: 1965, कहानियाँ
25. माया मिली न राम	: 1963, लघु उपन्यास
26. मॉडर्न कौन सुन्दर कौन ?	: 1964, लघु उपन्यास
27. अपनी-अपनी नजर, अपनी-अपनी डगर	: 1966, लघु उपन्यास
28. बिखरे मोती, खंड-2	: 1966, संदेश-संस्मरण
29. बिखरे मोती, खंड-3	: 1969, स्फुट रचनाएँ
30. बिखरे मोती, खंड-4	: 1970, भाषण-संकलन

राधिकारमण ग्रंथावली के निम्नांकित पाँच खंडों में सारी कृतियों का आकलन इस प्रकार हुआ है—

पहला खंड
(उपन्यास)

राम-रहीम
पुरुष और नारी

दूसरा खंड
(जानी-सुनी-देखी)

नारी क्या—एक पहेली ?
पूरब और पच्छिम
वे और हम
चुम्बन और चाँटा

तीसरा खंड
(उपन्यास और कहानियाँ)

टूटा तारा
सूरदास
संस्कार
गाँधी टोपी
सावनी समाँ
अबला क्या ऐसी सबला ?
कुसुमांजलि
बिखरे मोती (खंड-1)

चौथा खंड
(जानी-सुनी-देखी)

हवेली और झोपड़ी
देव और दानव
धर्म और मर्म
तब और अब

पाँचवाँ खंड
(लघु उपन्यास, नाटक, प्रहसन तथा विविध)

माया मिली न राम
मॉडर्न कौन सुन्दर कौन ?
अपनी-अपनी नजर, अपनी-अपनी डगर
नवजीवन (प्रेमलहरी)
तरंग
अपना पराया
धर्म की धुरी
नजर बदली, बदल गये नजारे
नये रिफ़ॉर्मर (नवीन सुधारक)
बिखरे मोती (खंड-2, 3, 4,)

परिशिष्ट-ग

सम्बन्धित-कृतियाँ

आधुनिक बिहार के गद्य निर्माता	: मुरलीधर श्रीवास्तव
राधिकारमण सिंह : व्यक्तित्व और कला	: ओंकार शरद
राजा राधिकारमण प्र. सिंह : व्यक्तित्व और कृतित्व	: पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'
राजा राधिकारमण : कृतित्व और व्यक्तित्व	: सियाराम शरण प्रसाद
राजा साहब के विचार और उद्‌गार	: सियाराम शरण प्रसाद
भावों के मोती : विचारों के सागर	: सियाराम शरण प्रसाद
राजा राधिकारमण अभिनन्दन ग्रंथ	: आरती साहित्य मंदिर जमालपुर (बिहार)

नई धारा, स्मृति विशेषांक

□□